

## CHAPTER पन्द्रह

### पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राजा विकल्पितः  
नानाशांकास्पदम रूपं कृष्णविश्लेषकर्षितः 1

#### शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-सखः—कृष्ण का विख्यात मित्र; कृष्णः—अर्जुन; भ्रात्रा—अपने बड़े भाई; राजा—राजा युधिष्ठिर द्वारा; विकल्पितः—सोचा गया; नाना—विविध; शङ्का-आस्पदम्—अनेक संशयों पर आधारित; रूपम्—रूप; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण की; विश्लेष—वियोग की भावना से; कर्षितः—अत्यन्त दुखी।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का विख्यात मित्र अर्जुन, महाराज युधिष्ठिर की सशंकित जिज्ञासाओं के अतिरिक्त भी, कृष्ण के वियोग की प्रबल अनुभूति के कारण शोक-संतप्त था तात्पर्य : अत्यधिक संतप्त होने के कारण, अर्जुन का गला रुँध-सा गया, अतएव वह महाराज युधिष्ठिर की विभिन्न सशंकित जिज्ञासाओं का ठीक से उत्तर नहीं दे पा रहा था।

शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।

विभुं तमेवानुस्मरन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

शोकेन—विरह से; शुष्यत्-वदन—सूखता मुँह; हृत्-सरोजः—कमल-सदृश हृदय; हत—विहीन; प्रभः—शारीरिक कान्ति; विभुम्—परम; तम्—भगवान् कृष्ण को; एव—निश्चय ही; अनुस्मरन्—भीतर ही भीतर सोचते हुए; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हो सका; प्रतिभाषितुम्—ठीक से उत्तर देने के लिए।

शोक से अर्जुन का मुँह तथा कमल-सदृश हृदय सूख चुके थे, अतएव उसकी शारीरिक कान्ति चली गई थी। अब भगवान् का स्मरण करने पर, वह उत्तर में एक शब्द भी न बोल पाया।

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।

परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

कृच्छ्रेण—बड़ी कठिनाई से; संस्तभ्य—वेग को रोककर; शुचः—विरह के; पाणिना—अपने हाथों से; आमृज्य—पोंछते हुए; नेत्रयोः—आँखों को; परोक्षेण—दृष्टि से दूर होने के कारण; समुन्नद्ध—अत्यधिक; प्रणय-औत्कण्ठ्य—स्नेह का उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हुए; कातरः—व्याकुल।

उसने बड़ी कठिनाई से आँखों में भरे हुए शोकाश्रुओं को रोका। वह अत्यन्त दुखी था, क्योंकि भगवान् कृष्ण उसकी दृष्टि से ओझल थे और वह उनके लिए अधिकाधिक स्नेह का अनुभव कर रहा था।

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।

नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

### शब्दार्थ

सख्यम्—शुभचिन्तन; मैत्रीम्—आशीर्वाद; सौहृदम्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; च—भी; सारथ्य-आदिषु—सारथी बनने आदि में; संस्मरन्—इन सबों को स्मरण करते हुए; नृपम्—राजा से; अग्रजम्—बड़ा भाई; इति—इस प्रकार; आह—कहा; बाष्प—उसासों भरते; गद्गदया—अभिभूत होकर; गिरा—वाणी से।

भगवान् कृष्ण को तथा उनकी शुभकामनाओं, आशीषों, घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध एवं उनके रथ हाँकने का स्मरण करके, अर्जुन का गला रुँध आया और वह भारी साँस लेता हुआ बोलने लगा।

तात्पर्य : परम पुरुष अपने शुद्ध भक्त के साथ सारे सम्बन्धों में पूर्ण हैं। श्री अर्जुन भगवान् के विशिष्ट भक्तों में से हैं, जो सख्य भाव का आदान-प्रदान कर रहे हैं और अर्जुन के साथ भगवान् का व्यवहार सर्वोच्च कोटि की मित्रता को प्रदर्शित करता है। वे अर्जुन के न केवल शुभचिन्तक थे, अपितु उसको लाभ प्रदान करने वाले भी थे और इसे अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने सुभद्रा का विवाह उससे करके, उसे पारिवारिक सम्बन्ध में भी बाँध लिया था। इसके भी ऊपर, भगवान् ने अपने मित्र की युद्ध के संकटों से रक्षा करने के लिए अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था और जब उन्होंने पाण्डवों को विश्व पर शासन करने के लिए स्थापित कर दिया, तो वे सचमुच प्रसन्न हुए थे। अर्जुन ने यह सब एक के बाद एक स्मरण किया और इस तरह ऐसे विचारों से अभिभूत हो गया।

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।

येन मेऽपहतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥

### शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; वञ्चितः—त्यक्त; अहम्—मैं; महा-राज—हे राजा; हरिणा—भगवान् द्वारा; बन्धु-रूपिणा—घनिष्ठ मित्र रूपी; येन—जिससे; मे—मेरा; अपहतम्—छीना गया है; तेजः—पराक्रम; देव—देवता; विस्मापनम्—आश्चर्यजनक; महत्—अत्यधिक प्रबल।

अर्जुन ने कहा : हे राजन्, मुझे अपना घनिष्ठ मित्र माननेवाले भगवान् हरि ने मुझे अकेला छोड़ दिया है। इस तरह मेरा प्रबल पराक्रम, जो देवताओं तक को चकित करनेवाला था, अब मुझमें नहीं रह गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं, “कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली तथा सम्पत्ति, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा भौतिक मामलों में ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे मेरी पूर्ण शक्ति का एक तुच्छ अंश-स्वरूप समझो।” अतएव कोई भी स्वतंत्र रूप से भगवान् से शक्ति प्राप्त किये बिना शक्तिमान नहीं हो सकता। जब भगवान् पृथ्वी पर अपने नित्यमुक्त पार्षदों के साथ अवतरित होते हैं, तो वे न केवल अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, अपितु वे अपने पार्षद भक्तों को अपना अवतारी सन्देश पूरा करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भी कहा गया है कि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षद पृथ्वी पर अनेक बार अवतरित होते हैं, किन्तु जहाँ भगवान् सभी विभिन्न अवतारों की भूमिकाओं का स्मरण रखते हैं, वहीं पार्षद उनकी परम इच्छा से उन्हें भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् इस धरा से अन्तर्धान होते हैं, तब वे सारे पार्षदों को अपने साथ लेते जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन को जो पराक्रम तथा शक्ति प्रदान की थी, वह भगवान् के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी, किन्तु जब यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो अर्जुन से आपात्कालीन शक्तियाँ वापस ले ली गईं, क्योंकि स्वर्ग के निवासियों को भी चकित करनेवाली अर्जुन की इन प्रबल शक्तियों की और आगे आवश्यकता नहीं रह गई थी। वे उनके भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त नहीं थीं। यदि अर्जुन-जैसे महान् भक्त को या स्वर्ग के निवासियों को भगवान् शक्ति प्रदान कर सकते हैं, एवं शक्ति वापस भी ले सकते हैं, तो उन क्षुद्र प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो ऐसे महात्माओं की तुलना में नगण्य हैं। अतएव इससे शिक्षा यह मिलती है कि भगवान् से प्राप्त की हुई शक्ति पर किसी को अभिमान नहीं करना चाहिए। अपितु विज्ञ मनुष्य को भगवान् के प्रति ऐसे वरदान के लिए कृतज्ञ होना चाहिए और ऐसी शक्ति का उपयोग भगवान् की सेवा करने के लिए करना चाहिए। भगवान् ऐसी शक्ति को कभी भी वापस ले सकते हैं, अतएव ऐसी शक्ति तथा ऐश्वर्य का सदुपयोग यह है कि उन्हें भगवान् की सेवा में लगाया जाय।

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।  
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

### शब्दार्थ

यस्य—जिसके; क्षण—एक क्षण; वियोगेन—वियोग से; लोकः—सारे ब्रह्माण्ड; हि—निश्चय ही; अप्रिय-दर्शनः—प्रत्येक वस्तु प्रतिकूल लगती है; उक्थेन—जीवन से; रहितः—विहीन; हि—निश्चय ही; एषः—ये सारे शरीर; मृतकः—शव; प्रोच्यते—कहे जाते हैं; यथा—जिस तरह ।

मैंने अभी-अभी उन्हें खोया है, जिनके क्षणमात्र वियोग से सारे ब्रह्माण्ड प्रतिकूल तथा शून्य हो जायेंगे, जिस तरह प्राण के बिना शरीर ।

तात्पर्य : वास्तव में जीव के लिए भगवान् से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नहीं होता। भगवान् अपना विस्तार अपने असंख्य अंशों द्वारा, स्वांश तथा विभिन्नांश रूपों में करते हैं। परमात्मा भगवान् का स्वांश है, जबकि सारे जीव विभिन्नांश हैं। जिस प्रकार भौतिक शरीर में जीव महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है, क्योंकि जीव के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं होता, उसी तरह परमात्मा के बिना जीव की कोई पूर्वस्थिति नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म या परमात्मा को, भगवान् कृष्ण के बिना प्रवेशाधिकार नहीं है, कोई वास्तविक आधार नहीं है। इसकी विशद व्याख्या भगवद्गीता में की गई है। ये सब एक दूसरे से परस्पर सन्नद्ध हैं, या अन्योन्याश्रित हैं। अतः अन्ततः भगवान् ही आश्रयतत्त्व हैं, अतएव हर एक वस्तु के लिए जीवन-स्वरूप हैं।

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां  
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।  
तेजो हतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः  
सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जिसके कृपामय; संश्रयात्—बल से; द्रुपद-गेहम्—राजा द्रुपद के महल में; उपागतानाम्—सभी एकत्र; राज्ञाम्—राजाओं का; स्वयंवर-मुखे—स्वयंवर के अवसर पर; स्मर-दुर्मदानाम्—समस्त कामुक विचारवालों का; तेजः—बल; हतम्—हरा गया; खलु—मानो; मया—मेरे द्वारा; अभिहतः—छेदा गया; च—भी; मत्स्यः—मछली का निशाना; सज्जी-कृतेन—धनुष तैयार करके; धनुषा—उस धनुष से; अधिगता—प्राप्त किया; च—भी; कृष्णा—द्रौपदी ।

उनकी कृपामयी शक्ति से ही मैं उन समस्त कामोन्मत्त राजकुमारों को परास्त कर सका, जो राजा द्रुपद के महल में स्वयंवर के अवसर पर एकत्र हुए थे। अपने धनुषबाण से मैं मत्स्य लक्ष्य का भेदन कर सका और इस प्रकार द्रौपदी का पाणिग्रहण कर सका ।

**तात्पर्य :** द्रौपदी राजा द्रुपद की सर्वसुन्दरी कन्या थी और जब वह तरुणी हुई तो प्रायः समस्त राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। लेकिन द्रुपद महाराज ने अपनी पुत्री अर्जुन को ही देने का निश्चय किया, अतएव उन्होंने एक अद्भुत युक्ति सोची। मकान की छत से, एक चक्र के भीतर, एक मछली लटका दी गई। शर्त यह थी कि हर राजकुमार को, रक्षक चक्र से होकर, मछली की आँखें बेधनी होंगी, और उसे लक्ष्य की ओर देखने की अनुमति नहीं होगी। जमीन पर एक जलपात्र था जिसमें लक्ष्य तथा चक्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और पात्र के हिलते हुए जल में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब को देखकर लक्ष्य साधना था। महाराज द्रुपद यह भलीभाँति जानते थे कि यह कार्य केवल अर्जुन या फिर कर्ण ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। फिर भी वे अर्जुन को ही अपनी पुत्री सौंपना चाहते थे। जब उस राजदरबार में, द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने सभी राजकुमारों से अपनी युवा बहन का परिचय कराया, तो उस समय कर्ण भी उपस्थित था। लेकिन द्रौपदी ने अत्यन्त चतुरतापूर्वक अर्जुन के प्रतिद्वन्दी कर्ण को हटाने के लिए अपने भाई से इच्छा व्यक्त की कि वह केवल क्षत्रिय राजकुमार को ही स्वीकार करेगी। वैश्य तथा शूद्र, क्षत्रियों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं। कर्ण को एक शूद्र बढई के पुत्र के रूप में जाना जाता था। इस तर्क के आधार पर द्रौपदी ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब दरिद्र ब्राह्मण के वेश में अर्जुन ने मत्स्यवेध कर दिया, तो सबों को आश्चर्य हुआ और सबों ने, विशेषतया कर्ण ने, उससे घनघोर युद्ध किया, किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन राजकुमारों के इस युद्ध में सफल हुआ और उसे द्रौपदी अथवा कृष्णा का हाथ प्राप्त हुआ। अर्जुन जिन भगवान् की शक्ति से ही इतना शक्तिशाली था, उन्हीं की अनुपस्थिति में, इस घटना का स्मरण करके वह शोक कर रहा था।

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-

मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।

लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया

दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जिसके; सन्निधौ—पास में होने से; अहम्—मैंने; उ—आश्चर्यवाचक शब्द; खाण्डवम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का सुरक्षित वन; अग्नये—अग्निदेव को; अदाम्—प्रदान किया; इन्द्रम्—इन्द्र को; च—भी; स—सहित; अमर-गणम्—देवताओं को; तरसा—कौशल के साथ; विजित्य—जीतकर; लब्धा—प्राप्त करके; सभा—सभा भवन; मय-कृता—मय द्वारा निर्मित;

अद्भुत—अत्यन्त अद्भुत; शिल्प—कला तथा कारीगरी; माया—शक्ति; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; अहरन्—एकत्र;  
नृपतयः—सारे राजकुमार; बलिम्—भेंटें; अध्वरे—ले आये; ते—आप।

चूँकि वे मेरे निकट थे, अतएव मेरे लिए अत्यन्त कौशलपूर्वक स्वर्ग के शक्तिशाली राजा इन्द्रदेव को उनके देव-पार्षदों सहित जीत पाना सम्भव हो सका और इस तरह अग्निदेव खाण्डव वन को विनष्ट कर सके। उन्हीं की कृपा से, मय नामक असुर को जलते हुए खाण्डव वन से बचाया जा सका। इस तरह हम अत्यन्त आश्चर्यमयी शिल्प-कला वाले सभाभवन का निर्माण कर सके, जहाँ राजसूय-यज्ञ के समय सारे राजकुमार एकत्र हो सके और आपको आदर प्रदान कर सके।

तात्पर्य : मय दानव खाण्डव-वन का निवासी था, किन्तु जब खाण्डव-वन में आग लगा दी गई, तब उसने अर्जुन से रक्षा करने के लिए याचना की। अतः अर्जुन ने उसकी जान बचाई। फलस्वरूप वह अत्यन्त कृतज्ञ था। बदले में उसने पाण्डवों के लिए एक अद्भुत सभा-भवन निर्माण कर दिया, जिसके प्रति सभी देशों के राजकुमार अत्यन्त आकृष्ट थे। उन्होंने पाण्डवों की अलौकिक शक्ति का अनुभव किया और सबों ने बिना ईर्ष्या या झिझक के, महाराज को भेंटें प्रदान कीं। असुरों में भौतिक आश्चर्य उत्पन्न करने की अद्भुत तथा अलौकिक शक्ति पाई जाती है, लेकिन वे सदैव समाज के लिए उपद्रवकारी तत्त्व होते हैं। आधुनिक असुर तो भौतिक विज्ञानी हैं, जो समाज में उत्पात मचाने के लिये किसी न किसी भौतिक आश्चर्य को जन्म देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, परमाणु हथियारों के निर्माण से मानव समाज में कुछ खलबली मची है। मैं भी इसी तरह का भौतिकतावादी था और वह ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ तैयार करना जानता था। फिर भी भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाह रहे थे। जब अग्नि तथा भगवान् कृष्ण का चक्र दोनों ही उसका पीछा कर रहे थे, तो उसने अर्जुन जैसे भक्त की शरण ग्रहण की और जिसने भगवान् श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि से उसे बचा लिया। अतः भगवान् के भक्त, भगवान् से अधिक दयालु होते हैं और भक्तिमय सेवा में भक्त की दया का महत्त्व भगवान् से भी अधिक होता है। जब अग्नि तथा भगवान् दोनों ने देखा कि असुर को अर्जुन ने शरण दे रखी है, तो उन्होंने उसका पीछा करना बन्द कर दिया। इस असुर ने अर्जुन के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करते हुए, अर्जुन की सेवा करनी चाही, लेकिन अर्जुन ने बदले में कुछ भी लेने से इनकार कर दिया। किन्तु भगवान् कृष्ण मय दानव से प्रसन्न हुए, क्योंकि उसने भक्त की शरण ग्रहण की थी; अतएव उन्होंने

उससे कहा कि राजा युधिष्ठिर के लिए वह एक अद्भुत सभा-भवन तैयार कर दे। इस तरह प्रक्रिया यह है कि भक्त की दया से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भगवान् की कृपा से भगवद्भक्त की सेवा करने का अवसर मिलता है। भीमसेन की गदा भी मय दानव द्वारा दी गई भेंट थी।

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थम्

आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।

तेनाहताः प्रमथनाथमखाय भूपा

यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; नृप-शिरः-अङ्घ्रिम्—जिसके पाँव राजाओं के सिरों से अलंकृत हों; अहन्—मारा हुआ; मख-अर्थम्—यज्ञ हेतु; आर्यः—सम्माननीय, श्रेष्ठ; अनुजः—छोटा भाई; तव—आपका; गज-अयुत—दस हजार हाथी; सत्त्व-वीर्यः—शक्तिशाली जीवन; तेन—उसके द्वारा; आहताः—एकत्रित; प्रमथ-नाथ—भूतों के देवता ( महाभैरव ); मखाय—यज्ञ के लिए; भूपाः—राजा; यत्-मोचिताः—जिसके द्वारा वे छोड़े गये; तत्-अनयन्—वे सब लाये; बलिम्—कर; अध्वरे—भेंट किया; ते—आपको।

दस हजार हाथियों की शक्ति रखनेवाले आपके छोटे भाई ने भगवान् की ही कृपा से जरासंध का वध किया, जिसकी पादपूजा अनेक राजाओं द्वारा की जाती थी। ये सारे राजा जरासंध के महाभैरव यज्ञ में बलि चढ़ाये जाने के लिए लाए गये थे, किन्तु उनको छुड़ा दिया गया। बाद में उन्होंने आपका आधिपत्य स्वीकार किया।

**तात्पर्य :** जरासंध मगध का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसके जन्म तथा कार्यकलापों की कथा भी अत्यन्त रोचक है। उसका पिता बृहद्रथ राजा भी मगध का अत्यन्त सम्पन्न एवं शक्तिशाली राजा था। उसने काशी के राजा की दो पुत्रियों से विवाह किया था, किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं था। दोनों पत्नियों से कोई पुत्र उत्पन्न न होने से निराश होकर राजा अपनी दोनों पत्नियों के साथ जंगल में जाकर तपस्या करने लगा। वहाँ पर एक महर्षि ने उसे पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया और रानियों को खाने के लिये एक आम दिया। रानियों ने आम खा लिया तो वे शीघ्र ही गर्भिणी हो गईं। राजा अत्यन्त प्रसन्न था कि रानियाँ गर्भवती हैं, किन्तु जब समय पूरा हुआ तो दोनों रानियों के गर्भ से दो भागों में विभाजित एक बालक उत्पन्न हुआ। ये दोनों भाग जंगल में फेंक दिये गये, जहाँ एक महान् असुरिनी रहती थी। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई कि उसके खाने के लिए नवजात शिशु का रक्त तथा मांस मिला, किन्तु उत्सुकतावश

उसने उन दोनों हिस्सों को जोड़ दिया, तो एक पूर्ण शिशु बन गया और उसमें जान आ गई। यह असुरिनी जरा नाम से विख्यात थी। वह सन्तानहीन राजा के ऊपर दया करके राजा के पास गई और उसे वह सुन्दर बालक भेंट कर आई। राजा उस असुरिनी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए कहा। राक्षसी ने इच्छा व्यक्त की कि इस बालक का नाम उसके नाम पर रखा जाय। इस तरह उस बालक का नाम जरासन्ध पड़ा, जिसका अर्थ है जरा नामक असुरिनी द्वारा जोड़ा हुआ। वास्तव में, यह जरासन्ध विप्रचित्ति नामक असुर के अंश-रूप में उत्पन्न हुआ था। जिस साधु ने रानियों को पुत्र का वरदान दिया, वह चन्द्रकौशिक कहलाता था, जिसने राजा के समक्ष उस पुत्र के बारे में भविष्य कथन किया था।

चूँकि जन्म से ही जरासन्ध में आसुरी गुण थे, अतः स्वभावतः वह समस्त भूतप्रेतों के स्वामी, शिवजी का महान् भक्त बना। जिस प्रकार रावण शिवजी का महान् भक्त था, उसी प्रकार जरासन्ध भी था। वह बन्दी बनाये गये सारे राजाओं को महाभैरव (शिव) के समक्ष बलि चढ़ा देता था। इस तरह अपनी सैन्यशक्ति से उसने अनेक छोटे-छोटे राजाओं को हराकर, उन्हें बन्दी बनाकर, महाभैरव के समक्ष बलि चढ़ा दिया था। महाभैरव या कालभैरव के अनेक भक्त बिहार प्रान्त में पाये जाते हैं, जो पहले मगध कहलाता था। जरासन्ध कृष्ण के मामा कंस का सम्बन्धी था, अतएव कंस की मृत्यु के बाद वह कृष्ण का महान् शत्रु बन गया और जरासन्ध तथा कृष्ण के बीच कई युद्ध हुए। भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाहते थे, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि जो लोग जरासन्ध के सैनिक-रूप में कार्य कर रहे हैं, वे न मारे जाँय। अतएव उसे मारने की योजना बनाई गई। कृष्ण, भीम तथा अर्जुन तीनों निर्धन ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध के पास गये और उससे भिक्षा माँगी। जरासन्ध ब्राह्मणों को भिक्षा देने से कभी इनकार नहीं करता था और उसने अनेक यज्ञ भी किये थे, तो भी वह भक्तिमय सेवा के स्तर पर न था। भगवान् कृष्ण, भीम तथा अर्जुन ने उससे मल्लयुद्ध करने की भिक्षा माँगी और यह तय हुआ कि जरासन्ध केवल भीम से मल्लयुद्ध करेगा। इस तरह वे सब जरासन्ध के अतिथि तथा प्रतिद्वन्दी भी थे। भीम तथा जरासन्ध कई दिनों तक मल्लयुद्ध करते रहे। जब भीम हताश हो गया, तो कृष्ण ने उसे संकेत किया कि बचपन में जरासन्ध को जोड़ा गया था। अतः भीम ने पुनः उसे दो भागों में चीर करके मार डाला और जितने राजा महाभैरव के समक्ष बलि किये जाने के लिए बन्दीगृह में रोके गये थे, उन



सबों को भीम ने छुड़ाया। इस तरह पाण्डवों के प्रति कृतज्ञ होने के कारण उन्होंने राजा युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार किया।

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-  
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।  
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या  
यस्तत्स्त्रियोऽकृतहतेशविमुक्तकेशाः ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

पत्न्याः—पत्नी का; तव—आपकी; अधिमख—विशाल यज्ञोत्सव के समय; क्लृप्त—वस्त्राभूषित; महा-अभिषेक—अच्छी तरह पवित्र की गई; श्लाघिष्ठ—इस प्रकार महिमावान; चारु—सुन्दर; कबरम्—बालों की चोटी; कितवैः—दुष्टों के द्वारा; सभायाम्—सभा में; स्पृष्टम्—पकड़ी जाने पर; विकीर्य—खोलकर; पदयोः—पैरों पर; पतित-अश्रु-मुख्याः—आँखों में अश्रु भरकर चरणों में गिरी हुई का; यः—वह; तत्—उनकी; स्त्रियः—पत्नियाँ; अकृत—हो गई; हत-ईश—पतिविहीन; विमुक्त-केशाः—खुले हुए बाल।

उन्होंने ही उन दुष्टों की पत्नियों के बाल खोल दिये, जिन्होंने आपकी महारानी ( द्रौपदी ) की उस चोटी को खोलने का दुस्साहस किया था, जो महान् राजसूय-यज्ञ अनुष्ठान के अवसर पर सुन्दर ढंग से सजाई तथा पवित्र की गई थी। उस समय वह अपनी आँखों में आँसू भर कर भगवान् कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ी थी।

तात्पर्य : रानी द्रौपदी की चोटी अत्यन्त सुन्दर थी, जिसे राजसूय यज्ञ के अवसर पर पवित्र किया गया था। किन्तु जब वे दाँव में हारी जा चुकी थी, तो दुःशासन ने उनके महिमा-मण्डित केशों को छूकर, उनका अपमान किया था। तब द्रौपदी भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर गिर पड़ी, अतः भगवान् कृष्ण ने निश्चय किया कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप दुःशासन तथा उसके दलवालों की सारी पत्नियों के केश खुलवाकर रहेंगे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, जब धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र युद्ध में मारे जा चुके थे, तो परिवार की सारी स्त्रियों को विधवाओं के रूप में केश खोलने पड़े। दूसरे शब्दों में, दुःशासन द्वारा भगवान् के महान् भक्त का अपमान किये जाने से ही कुरुवंश की सारी स्त्रियाँ विधवा हो गईं। भगवान् भले ही अपने ऊपर किसी दुष्ट द्वारा किये गये अपमान को सह लें, क्योंकि पिता अपने पुत्र के द्वारा किये गये अपमान को सह लेता है, किन्तु वे अपने भक्तों का अपमान

कभी नहीं सहते। महान् आत्मा का अपमान करने पर मनुष्य को अपने सारे पुण्यों तथा वरों की बलि दे देनी पड़ती है।

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्  
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।  
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं  
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

यः—जिसने; नः—हमको; जुगोप—सुरक्षा प्रदान की; वने—वन में; एत्य—प्रवेश करके; दुरन्त—भयानक; कृच्छ्रात्—संकट से; दुर्वाससः—दुर्वासा मुनि के; अरि—शत्रु द्वारा; रचितात्—बनाया गया; अयुत—दस हजार; अग्र-भुक्—पहले खानेवाला; यः—वह व्यक्ति; शाक-अन्न-शिष्टम्—बचा हुआ भोजन, जूठन; उपयुज्य—स्वीकार करके; यतः—क्योंकि; त्रि-लोकीम्—तीनों संसारों को; तृप्ताम्—संतुष्ट; अमंस्त—मन में सोचा; सलिले—जल के भीतर; विनिमग्न-सङ्घः—सभी जल में विलीन हुए।

हमारे वनवास के समय, दस हजार शिष्यों के साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा मुनि ने हमें भयावह संकट में डालने के लिए, हमारे शत्रुओं के साथ मिलकर चाल चली। उस समय उन्होंने (कृष्ण ने) केवल जूठन ग्रहण करके हमें बचाया था। इस तरह उनके भोजन ग्रहण करने से नदी में स्नान करती मुनि-मण्डली ने अनुभव किया कि वह भोजन से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गईं और तीनों लोक भी सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : दुर्वासा मुनि—ये शक्तिशाली योगी ब्राह्मण थे, जिन्होंने कठिन तपस्या तथा महान् व्रतों के द्वारा धर्म के नियमों का पालन करने का संकल्प किया था। उनका नाम अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें शिवजी की भाँति सरलता से प्रसन्न किया जा सकता था तथा सरलता से रुष्ट किया जा सकता था। प्रसन्न होने पर, वे सेवक का अपार शुभ कर सकते थे और अप्रसन्न होने पर भारी विपदा उत्पन्न कर सकते थे। कुमारी कुन्ती अपने पिता के घर में सभी महान् ब्राह्मणों की सेवा किया करती थीं और उनके अच्छे सत्कार से प्रसन्न होकर दुर्वासा मुनि ने उन्हें ऐसी शक्ति का वर दिया कि जिससे वे इच्छित देवता का आवाहन कर सकती थीं। ऐसा समझा जाता है कि वे शिवजी के अंशावतार थे, अतएव वे शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट किए जा सकते थे। वे शिव के महान् भक्त थे और शिवजी के आदेश से उन्होंने श्वेतकेतु का पुरोहित बनना स्वीकार किया था, क्योंकि

श्वेतकेतु एक सौ वर्षों तक यज्ञ कर चुके थे। वे कभी-कभी इन्द्रदेव की स्वर्ग-सभा में भी जाया करते थे। वे अपनी महान् योगशक्ति के बल से बाह्यावकाश में यात्रा कर सकते थे और ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने बाह्यावकाश में बहुत दूरी तक-भौतिक आकाश से भी परे वैकुण्ठ के ग्रहों तक यात्रा की थी। उन्होंने इतनी लम्बी दूरी एक वर्ष में तब तय की थी, जब उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट एवं परम भक्त राजा अम्बरीष से झगड़ा किया था।

उनके लगभग दस हजार शिष्य थे और वे जहाँ कहीं जाते तथा जिन क्षत्रिय राजाओं के अतिथि बनते, वहीं अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेते जाते। एक बार वे महाराज युधिष्ठिर के शत्रु चचेरे भाई दुर्योधन के घर गये। दुर्योधन इतना तो बुद्धिमान था कि वह समझे कि ब्राह्मण को सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए और ऐसा करने पर इस महर्षि ने दुर्योधन को कुछ वरदान देना चाहा। दुर्योधन इनकी योगशक्ति से परिचित था और उसे यह भी पता था कि ये योगी ब्राह्मण अप्रसन्न होने पर किस प्रकार ये बवंडर खड़ा कर सकते हैं। अतएव उसने ऐसी चाल सोची कि यह ब्राह्मण अपना क्रोध उनके शत्रु पाण्डवों पर उतारे। जब ऋषि ने दुर्योधन को कुछ वर देना चाहा, तो उसने इच्छा व्यक्त कि अच्छा हो यदि श्रीमान् उसके अग्रज तथा प्रमुख महाराज युधिष्ठिर के घर जायें। लेकिन उसने विनति की कि वे तब पहुँचें, जब युधिष्ठिर अपनी महारानी द्रौपदी के साथ भोजन कर चुके हों। दुर्योधन जानता था कि द्रौपदी के साथ भोजन करने के बाद महाराज युधिष्ठिर इतने सारे ब्राह्मण अतिथियों को भोजन नहीं दे पायेंगे और तब यह ऋषि क्रुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर के लिए संकट उत्पन्न कर देंगे। यह थी दुर्योधन की योजना। दुर्वासा मुनि ने उसके प्रस्ताव को मान लिया और दुर्योधन की योजना के अनुसार ही वनवासी राजा के यहाँ उस समय पहुँचे, जब राजा तथा द्रौपदी भोजन कर चुके थे।

महाराज युधिष्ठिर के द्वार पर पहुँचते ही दुर्वासा ऋषि का स्वागत किया गया और राजा ने उनसे प्रार्थना की कि वे दोपहर का धार्मिक कृत्य नदी के किनारे सम्पन्न करें, क्योंकि तब तक भोजन तैयार हो जाएगा। दुर्वासा अपने अनेक शिष्यों सहित नदी में स्नान करने गये और महाराज युधिष्ठिर इन अतिथियों के कारण बहुत चिन्ता करने लगे। जब तक द्रौपदी नहीं खाती थी, तब तक चाहे कितने ही अतिथि क्यों न आ जाँय, उन्हें भोजन दिया जा सकता था, किन्तु ऋषि तो दुर्योधन की योजना के अनुसार, उस समय पहुँचे थे, जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं।

जब भक्तगण कठिनाई में होते हैं, तब उन्हें ध्यानमग्न होकर भगवान् का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव द्रौपदी उस विषम स्थिति में भगवान् कृष्ण का स्मरण कर रही थीं और सर्वव्यापी भगवान् तुरन्त अपने भक्तों की कठिन स्थिति को समझ गयी। अतः वे वहाँ पर उपस्थित हुए और द्रौपदी से कहा कि जितना भी भोजन बचा हो, उसे वे ले आयें। भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी अत्यन्त खिन्न हुई, क्योंकि भोजन तो था नहीं और भगवान् भोजन माँग रहे थे। उन्होंने भगवान् से कहा कि यदि वे खा न चुकी होतीं, तो सूर्य द्वारा प्रदत्त रहस्यमयी थाली से वे कितना ही भोजन दे सकती थीं, किन्तु उस दिन वे भोजन कर चुकी थीं, अतएव अब संकट उपस्थित था। वे अपनी कठिनाइयाँ बताकर कृष्ण के समक्ष रोने लगीं, जैसाकि ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ करती हैं। किन्तु भगवान् ने द्रौपदी से रसोई के पात्र लाने को कहा, जिससे वे देख सकें कि उनमें कहीं भोजन का कोई कण लगा तो नहीं रह गया है। द्रौपदी के ऐसा करने पर भगवान् ने देखा कि पात्र में शाक का एक कण लगा हुआ है। भगवान् ने उसे निकाल कर तत्क्षण खा लिया। उसके बाद भगवान् ने द्रौपदी से कहा कि दुर्वासा समेत सारे अतिथियों को बुलायें।

भीम को नदी-तट से उन सबों को बुला लाने के लिए भेजा गया। भीम ने कहा, “हे महोदय! आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं? आइये, आपके लिए भोजन तैयार है।” किन्तु भगवान् कृष्ण ने भोजन का एक कण ग्रहण कर लिया था, अतएव नदी में स्नान करते समय अतिथियों का भी पेट पूरा भर चुका था। उन्होंने सोचा कि महाराज युधिष्ठिर ने उन सबों के लिए नाना प्रकार के व्यंजन तैयार कराये होंगे और चूँकि उन्हें भूख नहीं लग रही थी और वे खा नहीं सकेंगे, तो महाराज युधिष्ठिर को दुख होगा, अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि वे वहाँ जायें ही नहीं। इसलिए उन सबों ने वहाँ से चले जाने का निश्चय किया।

यह घटना सिद्ध करती है कि भगवान् सर्वोत्कृष्ट योगी हैं, अतएव वे योगेश्वर कहलाते हैं। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह भगवान् को भोजन भेंट करे। इसका फल यह होगा कि हर व्यक्ति सन्तुष्ट हो जायेगा, भले ही दस हजार अतिथि क्यों न हों, क्योंकि भगवान् सन्तुष्ट हैं। यही भक्ति की विधि है।

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-  
 विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।  
 अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण  
 प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; अथ—एक समय; भगवान्—ईश्वर ( शिवजी ); युधि—युद्ध में; शूल-पाणिः—त्रिशूलधारी;  
 विस्मापितः—आश्चर्यचकित; स-गिरिजः—हिमालय की पुत्री समेत; अस्त्रम्—अस्त्र; अदात्—दिया; निजम्—अपना; मे—  
 मुझको; अन्ये अपि—और दूसरे भी; च—तथा; अहम्—मैं; अमुना—उनके; एव—निश्चय ही; कलेवरेण—शरीर से; प्राप्तः—  
 प्राप्त; महा-इन्द्र-भवने—इन्द्रदेव के घर में; महत्—महान्; आसन-अर्धम्—आधा ऊँचा आसन।

यह उन्हीं का प्रताप था कि मैं एक युद्ध में शिवजी तथा उनकी पत्नी पर्वतराज हिमालय की कन्या को आश्चर्यचकित करने में समर्थ हुआ। इस तरह वे ( शिवजी ) मुझ पर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे अपना निजी अस्त्र प्रदान किया। अन्य देवताओं ने भी मुझे अपने-अपने अस्त्र भेंट किये और इसके अतिरिक्त, मैं इसी वर्तमान शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सका, जहाँ मुझे आधे ऊँचे आसन पर बैठने दिया गया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से शिवजी समेत सारे देवता अर्जुन से प्रसन्न थे। भाव यह है कि जिस किसी पर शिवजी की या किसी अन्य देवता की कृपा होती है, उस पर भगवान् श्रीकृष्ण की भी कृपा हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। रावण निश्चित रूप से शिवजी का महान् भक्त था, किन्तु वह भगवान् रामचन्द्र के क्रोध से बच नहीं पाया। और पुराणों में ऐसी अनेक घटनाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु यहाँ पर एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसमें शिवजी अर्जुन से युद्ध करके भी प्रसन्न होते हैं। परमेश्वर के भक्त जानते हैं कि देवताओं का सम्मान किस तरह किया जाय, किन्तु देवताओं के भक्त कभी-कभी मूर्खतावश ऐसा सोचते हैं कि भगवान् देवताओं से बड़े नहीं हैं। ऐसी धारणा से मनुष्य अपराधी बन जाता है और उसका अन्त वैसा ही होता है, जैसा रावण तथा अन्यो का हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सख्य भाव में सम्पन्न कार्यों का अर्जुन द्वारा किया गया उल्लेख उन सबों के लिए शिक्षाप्रद है, जो इस शिक्षा से आश्वस्त हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करके अन्य सारे वर प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु देवताओं के भक्तों या पूजकों को केवल आंशिक लाभ होगा, जो खुद देवताओं की ही भाँति विनाशशील होगा।

इस श्लोक की दूसरी महत्ता यह है कि भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन इसी शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सके, जहाँ स्वर्ग के देवता इन्द्रदेव ने अर्ध-ऊँचे सिंहासन पर अपने साथ बिठाकर उन्हें सम्मानित किया। कोई मनुष्य पुण्य कर्मों से स्वर्गलोक पहुँच सकता है, जैसा कि सकाम कर्मों की श्रेणी में शास्त्रों का अभिमत है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है, जब ऐसे पुण्य कर्मों का फल क्षीण हो जाता है, तब भोक्ता को पुनः पृथ्वीलोक पर ला गिराया जाता है। चन्द्रमा भी, स्वर्गीय ग्रहों के समान स्तर पर है और जिन लोगों ने यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर तथा कठोर तपस्या करके पुण्य अर्जित किया है, उन्हें ही शरीर की आयु पूरी होने के बाद स्वर्गलोक में प्रविष्ट होने दिया जायेगा। अर्जुन को उसी शरीर में स्वर्ग में प्रविष्ट होने दिया गया जो केवल भगवत्कृपा का प्रसाद था, अन्यथा ऐसा होना सम्भव नहीं है। आधुनिक विज्ञानियों द्वारा स्वर्गलोक में प्रवेश करने के सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे, क्योंकि ऐसे विज्ञानी अर्जुन के समान स्तर पर नहीं हैं। वे तो सामान्य मनुष्य हैं, जो यज्ञ, दान या तप की निधि से विहीन हैं। यह भौतिक शरीर प्रकृति के तीन गुण—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित होता रहता है। आधुनिक प्रजा न्यूनाधिक रूप से रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित है और इस प्रभाव के लक्षण उनके अत्यन्त कामुक तथा लोभी होने से प्रकट होते हैं। ऐसे पतित लोग मुश्किल से स्वर्गलोक पहुँच सकते हैं। स्वर्गलोक के ऊपर भी अन्य अनेक लोक भी हैं, जहाँ केवल सतोगुणी जीव ही पहुँच सकता है। इस ब्रह्माण्ड में, स्वर्ग तथा अन्य लोकों के निवासी अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं—मनुष्यों से कई गुना अधिक और वे एक से एक बढ़कर सतोगुणी होते हैं। वे सब भगवान् के भक्त होते हैं और यद्यपि उनका सत्त्वगुण विशुद्ध नहीं होता है, तो भी वे देवता कहलाते हैं, जिनमें इस भौतिक जगत में सम्भव अधिकतम मात्रा में सद्गुण पाये जाते हैं।

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं  
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।  
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ  
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥ १३ ॥

## शब्दार्थ

तत्र—उस स्वर्गलोक में; एव—निश्चय ही; मे—मैं स्वयं; विहरतः—अतिथि के रूप में रहते हुए; भुज-दण्ड-युग्मम्—अपनी दोनों भुजाओं को; गाण्डीव—गांडीव धनुष; लक्षणम्—चिह्न; अराति—निवातकवच नामक असुर; वधाय—मारने के लिए; देवाः—सारे देवता; स—सहित; इन्द्राः—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; श्रिताः—शरण लेकर; यत्—जिसके; अनुभावितम्—शक्तिमान होने के लिए सम्भव; आजमीढ—हे राजा आजमीढ के वंशज; तेन—उसके द्वारा; अहम्—मैं; अद्य—इस समय; मुषितः—रहित; पुरुषेण—व्यक्ति से; भूम्ना—परम।

जब मैं स्वर्गलोक में अतिथि के रूप में कुछ दिन रुका रहा, तो इन्द्रदेव समेत स्वर्ग के समस्त देवताओं ने निवातकवच नामक असुर को मारने के लिए गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी भुजाओं का आश्रय लिया था। हे आजमीढ के वंशज राजा, इस समय मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विहीन हो गया हूँ, जिनके प्रभाव से मैं इतना शक्तिशाली था।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के देवता निश्चय ही अधिक बुद्धिमान, शक्तिमान तथा सुन्दर होते हैं, तो भी उन्हें अर्जुन से उनके गाण्डीव धनुष के कारण सहायता लेनी पड़ी, क्योंकि गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से शक्ति-सम्पन्न था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी कृपा से शुद्ध भक्त उनकी इच्छा के अनुसार शक्तिमान हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती है। किन्तु जब भगवान् किसी से अपनी शक्ति वापस ले लेते हैं, तो वह भगवान् की इच्छा से शक्तिविहीन हो जाता है।

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-  
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।  
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां  
तेजास्पदं मणिमयं च हतं शिरोभ्यः ॥ १४ ॥

## शब्दार्थ

यत्-बान्धवः—जिनकी मैत्री मात्र से; कुरु-बल-अब्धिम्—कुरुओं की सैन्य-शक्ति-रूपी सागर को; अनन्त-पारम्—दुर्लभ्य; एकः—एकाकी; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर; ततरे—पार करने में समर्थ था; अहम्—मैं; अतीर्य—अजेय; सत्त्वम्—अस्तित्व; प्रत्याहृतम्—वापस ले लिया; बहु—अत्यधिक; धनम्—धन; च—भी; मया—मेरे द्वारा; परेषाम्—शत्रु का; तेज-आस्पदम्—तेज ( प्रकाश ) का स्रोत; मणि-मयम्—मणियों से अलंकृत; च—भी; हतम्—बलपूर्वक लाया गया; शिरोभ्यः—उनके सिरों से।

कौरवों की सैन्यशक्ति उस समुद्र की तरह थी, जिसमें अनेक अजेय प्राणी रहते थे। फलतः वह दुर्लभ्य थी। किन्तु उनकी मित्रता के कारण, मैं रथ पर आरूढ़ होकर, उसे पार कर सका। यह उन्हीं की कृपा थी कि मैं गौवों को वापस ला सका और बलपूर्वक राजाओं के तमाम मुकुट एकत्र कर सका, जो समस्त तेज के स्रोत रत्नों से जटित थे।

**तात्पर्य :** कौरवों के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कृप तथा कर्ण जैसे बड़े-बड़े सेनानायक थे और उनकी सैन्य-शक्ति विशाल समुद्र की तरह दुर्लभ थी। फिर भी यह श्रीकृष्ण की ही कृपा थी कि अर्जुन ने अकेले ही रथ पर बैठकर उन सबों को एक-एक करके सरलता से समाप्त कर दिया। दूसरे पक्ष के सेनापतियों में अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ अर्जुन अकेले इस महायुद्ध का भार सँभाले रहे। इसी प्रकार जब पाण्डव विराट के महल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कौरवों ने राजा विराट से झगड़ा मोल लिया और उनकी बड़ी तादाद में गौवें हर लीं। जब वे गौवें ले जा रहे थे, तो अर्जुन ने उनसे अज्ञात वेष में युद्ध किया और गायों के साथ बलपूर्वक लूटी गई सम्पत्ति तथा राजमुकुटों में लगे रत्नों को भी उनसे छीन लिया। अर्जुन स्मरण करने लगे कि यह सब भगवान् कृष्ण की ही कृपा से सम्भव हो सका।

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-  
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।  
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-  
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

यः—केवल वे ही; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; गुरु—द्रोणाचार्य; शल्य—शल्य; चमूषु—व्यूह के मध्य; अदभ्र—विशाल; राजन्य-वर्य—बड़े-बड़े राजकुमार; रथ-मण्डल—रथों की शृंखला; मण्डितासु—अलंकृत; अग्रे चरः—आगे-आगे जाते हुए; मम—मेरा; विभो—हे राजा; रथ-यूथ-पानाम्—सारे रथी; आयुः—उम्र अथवा सकाम कर्म; मनांसि—मानसिक उथल-पुथल; च—भी; दृशा—चितवन से; सहः—शक्ति; ओजः—पराक्रम; आर्च्छत्—वापस ले लिया।

एकमात्र वे ही थे जिन्होंने सबों की आयु छीन ली थी और जिन्होंने युद्धभूमि में भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य, इत्यादि कौरवों द्वारा निर्मित सैन्य-व्यूह की कल्पना तथा उत्साह को हर लिया था। उन सबकी योजना अत्यन्त पटु थी और आवश्यकता से अधिक थी, लेकिन उन्होंने ( भगवान् श्रीकृष्ण ने ) आगे बढ़कर यह सब कर दिखाया।

**तात्पर्य :** भगवान् श्रीकृष्ण घट-घट व्यापी अपने परमात्मा-अंश से सभी के हृदय में विस्तार करते हैं और इस तरह स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, बुद्धिहीनता तथा मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों में सबों का निर्देशन करते हैं ( भगवद्गीता १५.१५ )। परमेश्वर होने के नाते, वे जीव की आयु को घटा-बढ़ा सकते हैं। इस तरह भगवान् ने अपनी योजना के अनुसार कुरुक्षेत्र-युद्ध का संचालन किया। वे इस युद्ध को इसलिये



कराना चाह रहे थे, जिससे वे युधिष्ठिर को इस लोक का सम्राट बना सकें। इस दिव्य कार्य को सुगम बनाने के लिये उन्होंने अपनी परम शक्तिमान इच्छा से विरोधी पक्ष के उन सभी लोगों को मार डाला। विरोधी पक्ष में भीष्म, द्रोण तथा शल्य जैसे महान् सेनापति थे, अतएव उस युद्ध में यदि भगवान् ने सब प्रकार की युक्तियों से सहायता न की होती, तो अर्जुन का जीतना असम्भव था। सामान्यतया ऐसी युक्तियाँ आधुनिक राजनीति में भी सभी नीतिज्ञों द्वारा अपनायी जाती हैं, लेकिन ये सब भौतिक शक्तिशाली गुप्तचरी, सैन्य-निपुणता तथा राजनयिक दाँव-पेंच द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। चूँकि अर्जुन भगवान् के प्रिय भक्त थे, अतएव भगवान् ने स्वयं यह सब किया, अर्जुन को इसकी चिन्ता नहीं करनी पड़ी। भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि ऐसी होती है।

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-  
नप्तृत्रिगर्तशल्यसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।  
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि  
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जिसके अन्तर्गत; दोःषु—हथियारों की सुरक्षा; मा प्रणिहितम्—स्वयं मेरे स्थित होने पर; गुरु—द्रोणाचार्य; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; नप्तृ—भूरिश्रवा; त्रिगर्त—राजा सुशर्मा; शल्य—शल्य; सैन्धव—राजा जयद्रथ; बाह्लिक—महाराज शान्तनु ( भीष्म के पिता ) का भाई; आद्यैः—इत्यादि.; अस्त्राणि—अस्त्रों को; अमोघ—अचूक; महिमानि—अत्यन्त शक्तिशाली; निरूपितानि—व्यवहृत; न—नहीं; उपस्पृशुः—स्पर्श किया; नृहरि-दासम्—नृसिंह देव का सेवक ( प्रह्लाद ); इव—सदृश; असुराणि—असुरों द्वारा प्रयुक्त हथियार।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ तथा बाह्लिक जैसे बड़े-बड़े सेनापतियों ने अपने-अपने अचूक हथियार मुझ पर चलाये, लेकिन उनकी ( भगवान् कृष्ण की ) कृपा से सब वे मेरा बाल बाँका भी न कर पाये। इसी प्रकार भगवान् नृसिंह देव के परम भक्त प्रह्लाद महाराज असुरों द्वारा प्रयुक्त समस्त शस्त्रास्त्रों से अप्रभावित रहे।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज नृसिंह-देव के परम भक्त थे। उनकी कथा श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में दी गई है। प्रह्लाद महाराज अभी पाँच वर्ष के नन्हे बालक ही थे कि वे अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के क्रोध के पात्र बने, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। असुर पिता ने अपने भक्त पुत्र प्रह्लाद को मारने के लिए सभी हथियारों को आजमाया, लेकिन भगवान् की कृपा से वे अपने पिता की

सभी घातक कार्यवाहियों से बचते गये। उन्हें जलती अग्नि में, उबलते तेल में, पर्वत की चोटी से नीचे, हाथी के पाँव के नीचे फेंका गया और उन्हें विष भी दिया गया। अन्त में पिता ने अपने पुत्र को मारने के लिए गँडासा उठाया, तो नृसिंह देव प्रकट हुए और उस जघन्य पिता का पुत्र के समक्ष वध कर दिया। इस तरह भगवान् के भक्त को कोई नहीं मार सकता। इसी प्रकार अर्जुन को भी भगवान् ने बचाया, यद्यपि उन्हें मारने के लिए भीष्म जैसे महान् प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सभी घातक हथियार छोड़े गये थे।

कर्ण—ये कुन्ती के पुत्र थे, जो महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व सूर्यदेव से प्राप्त हुए थे। कर्ण का जन्म हाथ के कड़े तथा कान के कुण्डल सहित हुआ था, जो दुर्दम वीर के असामान्य लक्षण थे। प्रारम्भ में उसका नाम वसुसेन था, लेकिन जब वह बड़ा हुआ तो उसने अपने प्राकृतिक कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को भेंट कर दिये और उसके बाद वैकर्तन कहलाया। कुमारी कुन्ती ने जन्म देने के बाद, उसे गंगा नदी में फेंक दिया गया था। बाद में अधिरथ ने उसे उठा लिया और उसने तथा उसकी पत्नी राधा ने उसे अपनी सन्तान की तरह पाला-पोसा। कर्ण अत्यन्त दानी था, विशेषतः ब्राह्मणों के प्रति। ब्राह्मणों को दान देते समय, वह अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत रहता था। इसी दानी भावना से उसने अपने कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को दे दिये थे, जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने बदले में शक्ति नाम का महान् अस्त्र प्रदान किया। उसकी द्रोणाचार्य के शिष्य-रूप में भर्ती हुई थी और प्रारम्भ से ही उसमें तथा अर्जुन में स्पर्धा चलती थी। अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा देखकर ही दुर्योधन ने उसे अपना संगी बना लिया था और क्रमशः उनमें प्रगाढ़ मैत्री हो गई। वह द्रौपदी के स्वयंवर में भी उपस्थित था और जब उस सभा में उसने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहा, तो द्रौपदी के भाई ने घोषणा की कि कर्ण उस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता, क्योंकि वह शूद्र बढई का पुत्र था। यद्यपि उसे उस प्रतियोगिता में भाग लेने नहीं दिया गया, किन्तु जब अर्जुन मत्स्य-भेद में सफल रहा और द्रौपदी ने अर्जुन को माला पहना दी, तो कर्ण तथा हारे हुए राजकुमारों ने द्रौपदी-सहित जाते हुए अर्जुन के लिए असामान्य रूकावट खड़ी की। विशेष रूप से कर्ण उनसे बहादुरी से लड़ा, किन्तु वे सभी अर्जुन द्वारा परास्त हुए। दुर्योधन कर्ण से अत्यधिक प्रसन्न था, क्योंकि अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा चलती रहती थी और जब दुर्योधन राजा बना तो उसने कर्ण को अंगराज्य का राजा बना दिया। द्रौपदी को जीतने का प्रयास असफल होने से कर्ण ने दुर्योधन को सलाह दी कि राजा द्रुपद पर हमला कर

दिया जाये, क्योंकि उसे हराकर द्रौपदी तथा अर्जुन दोनों को बन्दी बनाया जा सकता था। लेकिन द्रोणाचार्य ने इस षड्यंत्र के लिए उनको फटकारा। फलतः वे इस कार्य से विरत हो गये। कर्ण, कई बार हारा था, न केवल अर्जुन से, अपितु भीमसेन से भी। वह बंगाल, उड़ीसा तथा मद्रास के सम्मिलित राज्य का राजा था। बाद में उसने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सक्रिय भाग लिया और जब शकुनि द्वारा सुझाये जाने पर प्रतिद्वन्द्वी बन्धुओं में जुआ खेला गया, तो कर्ण ने उसमें भाग लिया और जब द्रौपदी दाँव पर चढ़ गई, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। इससे उसके पुराने वैर का शोधन हुआ। जब द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया, उसने ही अत्यन्त प्रोत्साहित होकर इसकी सूचना दी और उसने ही पाण्डवों तथा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए दुस्शासन को आज्ञा दी। उसने द्रौपदी से दूसरा पति चुनने को कहा, क्योंकि पाण्डवों के द्वारा हारी जाने से वह कुरुओं की दासी बन चुकी थी। वह पाण्डवों का स्थायी दुश्मन बना रहा और जब-जब अवसर मिलता रहा, वह उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में उसने पहले ही परिणाम जान लिया था और उसने अपना अभिमत व्यक्त किया था कि अर्जुन के सारथी के रूप में, कृष्ण के होने से, यह युद्ध अर्जुन द्वारा जीता जायेगा। वह भीष्म का सदैव विरोध करता रहा और कभी-कभी गर्वित होकर कहता कि यदि भीष्म उसकी योजना में दखल न दें, तो वह पाण्डवों को पाँच दिनों में जीत सकता है। लेकिन जब भीष्म की मृत्यु हुई, तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने इन्द्र से प्राप्त हुए शक्ति अस्त्र द्वारा घटोत्कच का वध किया। अर्जुन ने उसके पुत्र वृषसेन का वध किया उसने सर्वाधिक पाण्डव सैनिकों को मारा था। अन्त में अर्जुन से उसका घनघोर युद्ध हुआ, और वह अकेल ही ऐसा था, जिसने युद्ध में अर्जुन के मुकुट को मार गिराया था। लेकिन ऐसा हुआ कि उसके रथ का पहिया युद्धभूमि के कीचड़ में फँस गया और जब वह उस पहिये को ठीक करने रथ से नीचे उतरा, तो उसके मना करने पर भी अर्जुन ने उसे मार डाला।

*नप्ता* अथवा *भूरिश्रवा*—भूरिश्रवा कुरुवंशी सोमदत्त का पुत्र था। शल्य उसका भाई था। दोनों भाई तथा पिता द्रौपदी-स्वयंवर में गये थे। इन सबों ने भगवान् के भक्त-मित्र होने के कारण, अर्जुन की अद्भुत शक्ति की प्रशंसा की थी और भूरिश्रवा ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को सलाह दी थी कि वे उनसे झगड़ा मोल न लें अथवा युद्ध न करें। इन सबों ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी भाग लिया। उसके

पास एक अक्षौहिणी सेना थी जिसमें पैदल सिपाही, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे और यह सेना दुर्योधन की ओर से कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ी थी। भीम उसे यूथपतियों में से एक मानते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वह विशेष तौर पर सात्यकी से लड़ा था और उसने सात्यकी के दस पुत्रों को मार डाला था। बाद में अर्जुन ने उसके हाथ काट दिये तब सात्यकी ने उसे मार डाला। मृत्यु के बाद वह विश्वदेव में समा गया।

*त्रिगर्त* अथवा *सुशर्मा*—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का पुत्र तथा त्रिगर्त देश का राजा था और वह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था। यह दुर्योधन का मित्र था और इसने दुर्योधन को मत्स्यदेश (दरभंगा) पर आक्रमण करने की सलाह दी थी। विराट नगर में गायों को चुराते समय, वह महाराज विराट को बन्दी बना ने में सफल हुआ था, लेकिन बाद में भीम ने महाराज विराट को छोड़ा लिया था। कुरुक्षेत्र युद्ध के में भी वह वीरतापूर्वक लड़ा, किन्तु अन्त में अर्जुन द्वारा मारा गया।

*जयद्रथ*—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का ही एक अन्य पुत्र था। यह सिन्धुदेश (आधुनिक सिंध जो पाकिस्तान में है) का राजा था। इसकी पत्नी का नाम दुःशला था। यह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था और उससे विवाह करने के लिए बहुत उत्सुक था, किन्तु प्रतियोगिता में असफल रहा। किन्तु तब से वह हमेशा द्रौपदी के निकट आने के फेर में रहा करता था। जब वह अपना विवाह करने शल्यदेश जा रहा था, तो उसने रास्ते में काम्यवन में उसने एक बार फिर द्रौपदी को देखा और वह उसके प्रति अत्यधिक आकर्षित हो गया था। तब अपना राज्य जुए में हारकर पाण्डव तथा द्रौपदी वनवास में थे और तब जयद्रथ ने अपने संगी कोटिशष्य के द्वारा, अनुचित तरीके से द्रौपदी के पास सन्देश भेजा। द्रौपदी ने तुरन्त ही जयद्रथ के प्रस्ताव को बड़ी बुरी तरह टुकरा दिया था, किन्तु द्रौपदी के सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकर्षित था कि वह बारम्बार प्रयास करता रहा और हर बार द्रौपदी ने उसे टुकरा दिया। उसने द्रौपदी को जबरन रथ पर बैठाना चाहा, लेकिन द्रौपदी ने उसे ऐसी पटकनी दी कि वह कटे हुए वृक्ष की तरह धराशायी हो गया। लेकिन वह हतोत्साहित नहीं हुआ और द्रौपदी को जबरन रथ पर बिठाने में सफल रहा। धौम्य मुनि ने यह घटना देखी तो उन्होंने जयद्रथ के इस कार्य का तीव्र विरोध किया। उन्होंने रथ का पीछा भी किया और धात्रेयिका के द्वारा इसकी जानकारी महाराज युधिष्ठिर तक पहुँचाई। तब पाण्डवों ने आक्रमण करके उसके सारे सैनिकों को मार डाला और अन्त में

भीमसेन ने जयद्रथ को पकड़कर उसकी जमकर पिटाई की ओर वह लगभग मरा सा हो गया। फिर उसके पाँच बाल छोड़कर सिर के सारे बाल काट लिये गये और समस्त राजाओं के समक्ष लाकर, महाराज युधिष्ठिर के दास के रूप में, परिचय कराया गया। उसे सभी राजकुमारों के समक्ष अपने को महाराज युधिष्ठिर का दास स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और उसे उसी अवस्था में महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख लाया गया। महाराज युधिष्ठिर ने दयालु होकर उसे छोड़ने का आदेश दिया और जब उसने त्रिगर्त राजकुमार को महाराज के अधीन बनाने के लिए आत्म-स्वीकृति कर ली, तो महारानी द्रौपदी ने भी उसको मुक्त करने की इच्छा व्यक्त कर दी। इस घटना के बाद उसे अपने देश जाने दिया गया। इस प्रकार अपमानित होने के बाद, वह हिमालय पर्वत पर गंगोत्री चला गया और उसने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की। उसने पाँचों पाण्डवों को कम से कम एक-एक करके हराने का वर माँगा। तत्पश्चात् जब कुरुक्षेत्र-युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसने दुर्योधन का पक्ष लिया। पहले दिन उसने महाराज द्रुपद से, फिर विराट से और तब अभिमन्यु से युद्ध किया। जब अभिमन्यु को सात महान् सेनापति घेरकर निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, तो पाण्डव उसकी सहायता करने के लिए पहुँचे, किन्तु जयद्रथ ने शिवजी की कृपा से अपनी शक्ति से उन्हें पीछे हटा दिया। इस पर अर्जुन ने उसका वध करने की प्रतिज्ञा की। यह सुनकर जयद्रथ ने युद्धस्थल छोड़कर भागना चाहा और कौरवों से इसकी अनुमति माँगी, किन्तु उसे ऐसा नहीं करने दिया गया। उल्टे उसे अर्जुन से युद्ध करने के लिए विवश किया गया और जब युद्ध चल रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को याद दिलाई कि जयद्रथ को शिवजी का यह वरदान प्राप्त है कि जो भी उसका सिर धरती पर गिराएगा, वह तुरन्त मर जायेगा। अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वे जयद्रथ के सिर को सीधे उसके पिता की गोद में गिराये, जो समन्तपंचक तीर्थ में तप कर रहा था। अर्जुन ने वास्तव में ऐसा ही किया। जयद्रथ का पिता पुत्र के कटे हुए सिर को अपनी गोद में देखकर अचम्भित हो उठा। अतएव उसने तुरन्त ही उस सिर को भूमि पर फेंक दिया। उसके पिता का सिर सात खण्डों में विभक्त हो गया और वह तुरन्त मर गया।

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे  
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।

मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं

न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

सौत्ये—सारथी के विषय में; वृतः—लगा हुआ; कुमतिना—बुरी चेतना के कारण; आत्म-दः—उद्धार करनेवाला; ईश्वरः—परमेश्वर; मे—मेरा; यत्—जिसको; पाद-पद्मम्—चरणकमल को; अभवाय—मोक्ष के मामले में; भजन्ति—सेवा करते हैं; भव्याः—बुद्धिमान पुरुष; माम्—मुझको; श्रान्त—प्यासा; वाहम्—मेरे घोड़े; अरयः—शत्रु; रथिनः—महान् सेनापति; भुविष्ठम्—भूमि पर खड़े हुए; न—नहीं; प्राहरन्—आक्रमण किया; यत्—जिसकी; अनुभाव—कृपा; निरस्त—अनुपस्थित होने से; चित्ताः—मन।

यह उन्हीं की कृपा थी कि जब मैं अपने प्यासे घोड़ों के लिए जल लेने रथ से नीचे उतरा था, तो मेरे शत्रुओं ने मुझे मारने की परवाह न की। यह तो अपने प्रभु के प्रति मेरा असम्मान ही था कि मैंने उन्हें अपना सारथी बनाने का दुस्साहस किया, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ पुरुष उनकी पूजा तथा सेवा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण निर्विशेषवादियों तथा भगवद्भक्तों दोनों के द्वारा समान रूप से आराध्य हैं। निर्विशेषवादी उनके जाज्वल्यमान तेज की पूजा करते हैं, जो सच्चिदानन्द-स्वरूप दिव्य देह से उद्भासित होता रहता है और भक्तगण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में उनकी पूजा करते हैं। जो लोग निर्विशेषवादियों से भी नीचे के हैं, वे उन्हें महान् ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। किन्तु भगवान् तो अपनी विशिष्ट दिव्य लीलाओं के द्वारा सबों को आकृष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं और इस तरह वे पूर्ण स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी की भूमिका निभाते हैं। अर्जुन से उनका दिव्य सम्बन्ध मित्र (सख्य) भावका था, अतएव उन्होंने अपनी भूमिका पूरी तरह निभाई, जिस तरह उन्होंने अपने माता-पिता, प्रेमिकाओं तथा पत्नियों के साथ किया था। इस तरह के पूर्ण दिव्य भाव में भक्त, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कारण यह भूल जाता है कि उसका मित्र या पुत्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है, यद्यपि भक्त भी कभी-कभी भगवान् के कार्यों से मोहग्रस्त हो जाता है। भगवान् के प्रयाण के बाद अर्जुन को अपने परम मित्र का बोध था, लेकिन इस विषय में अर्जुन कोई गलती नहीं कर रहा था और न ही उसे भगवान् के विषय में कोई भ्रान्त धारणा थी। बुद्धिमान व्यक्ति अर्जुन जैसे शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की दिव्य करनी के द्वारा आकृष्ट होते हैं।

युद्धभूमि में जल का अभाव सर्वविदित तथ्य है। जल वहाँ दुर्लभ रहता है। और पशु तथा मनुष्य, दोनों ही युद्धक्षेत्र में निरन्तर श्रम करते रहने से प्यासे हो उठते हैं और प्यास बुझाने के लिए जल की

आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से, घायल सैनिक तथा सेनापति मृत्यु के समय अत्यधिक प्यासे हो उठते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जल न मिलने के कारण ही विवश होकर मृत्यु हो जाती है। लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्ध में पानी के अभाव को भूमि का बेधन करके पूरा किया गया। भगवान् की कृपा से किसी भी स्थान को बेध करके जल आसानी से प्राप्त किया जा सकता था, यदि वहाँ बेधन करने की सुविधा हो। आधुनिक प्रणाली भी भूमि के बेधन के सिद्धान्त पर कार्य करती है। फिर भी आज के इंजीनियर, आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त खुदाई करने में समर्थ नहीं हो पाते। लेकिन इतिहास से पता चलता है कि पाण्डवों के काल में अर्जुन जैसे बड़े-बड़े सेनानायक घोड़ों तक को तुरन्त जल पिला सकते थे—मनुष्यों की तो बात ही क्या? वे तीक्ष्ण बाण से पृथ्वी की कठोर सतह को भेदकर ही नीचे से जल निकाल सकते थे। यह विधि आधुनिक विज्ञानियों को आज भी अज्ञात है।

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि  
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।  
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि  
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

नर्माणि—परिहास में बातचीत; उदार—खुलकर बातें करनेवाले; रुचिर—अच्छी लगनेवाली; स्मित-शोभितानि—हँसीले चेहरे से अलंकृत; हे—हे, अरे ( सम्बोधन का चिह्न ); पार्थ—हे पृथा-पुत्र; हे—हे; अर्जुन—अर्जुन; सखे—मित्र; कुरु-नन्दन—कुरुवंश के पुत्र; इति—इस प्रकार; सञ्जल्पितानि—ऐसी बातचीत; नर-देव—हे राजा; हृदि—हृदय में; स्पृशानि—स्पर्श करती; स्मर्तुः—उन्हें स्मरण करके; लुठन्ति—अभिभूत करती हैं; हृदयम्—हृदय तथा आत्मा को; मम—मेरे; माधवस्य—माधव ( कृष्ण ) का।

हे राजन्, उनके परिहास तथा उनकी मुक्त बातें अत्यन्त सुहावनी तथा सौंदर्य से अलंकृत होती थीं। “हे पार्थ, हे सखा, हे कुरुनन्दन” कहकर उनका पुकारना तथा उनकी समस्त सहृदयता की अब मुझे याद आ रही है और मैं अभिभूत हूँ।

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि—  
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।  
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं  
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥ १९ ॥

## शब्दार्थ

शय्या—एक ही बिस्तर पर सोना; आसन—एक ही आसन पर बैठना; अटन—साथ-साथ घूमना; विकल्थन—आत्मश्लाघा; भोजन—साथ-साथ खाना; आदिषु—इत्यादि में; ऐक्यात्—एकत्व होने से; वयस्य—हे मित्र; ऋतवान्—सत्यवादी; इति—इस प्रकार; विप्रलब्धः—बुरा आचरण किया गया; सख्युः—मित्र से; सखा इव—मित्र की भाँति; पितृवत्—पिता की भाँति; तनयस्य—बालक का; सर्वम्—सारे; सेहे—सह लेते; महान्—महान्; महितया—यश से; कुमतेः—दुर्बुद्धि का; अधम्—अपराध; मे—मेरे।

सामान्यतः हम दोनों साथ-साथ रहते और सोते, साथ-साथ बैठते और घूमने जाते। और बहादुरी के कार्यों के लिए आत्म-प्रशंसा करते हुए कभी-कभी यदि कोई भूल होती, तो मैं उन्हें यह कहकर चिढ़ाया करता था “हे मित्र, तुम तो बड़े सत्यवादी हो।” उस समय भी जब उनका महत्व घटता होता, वे परमात्मा होने के कारण, मेरी उटपटांग बातों को सह लेते थे और मुझे उसी प्रकार क्षमा कर देते थे जिस तरह एक सच्चा मित्र अपने सच्चे मित्र को या पिता अपने पुत्र को क्षमा कर देता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् श्रीकृष्ण परम-पूर्ण हैं, अतएव शुद्ध भक्तों के साथ उनकी दिव्य लीलाओं में किसी तरह की कमी नहीं रहती, चाहे वह मित्र, पुत्र या प्रेमी के रूप में हों। भगवान् अपने मित्रों, माता-पिता या प्रेमिकाओं की झिड़कियों में बड़े-बड़े विद्वानों तथा धर्म-विशारदों द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की जानेवाली वैदिक ऋचाओं से भी अधिक आनन्द उठाते हैं।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन  
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।  
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्  
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ २० ॥

## शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; नृप-इन्द्र—हे सम्राट; रहितः—विहीन; पुरुष-उत्तमेन—परमेश्वर द्वारा; सख्या—अपने मित्र द्वारा; प्रियेण—अपने सर्वाधिक प्रिय द्वारा; सुहृदा—शुभचिन्तक द्वारा; हृदयेन—हृदय तथा आत्मा से; शून्यः—शून्य, रहित; अध्वनि—हाल ही में; उरुक्रम-परिग्रहम्—सर्वशक्तिमान की पत्नियाँ; अङ्ग—शरीर; रक्षन्—रक्षा करते हुए; गोपैः—ग्वालों द्वारा; असद्भिः—नास्तिक, असभ्य, दुष्ट; अबला इव—निर्बल स्त्री की तरह; विनिर्जितः अस्मि—पराजित हो चुका हूँ।

हे राजन्, अब मैं अपने मित्र तथा सर्वाधिक प्रिय शुभचिन्तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विलग हो गया हूँ, अतएव मेरा हृदय हर तरह से शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। उनकी अनुपस्थिति



में, जब मैं कृष्ण की तमाम पत्नियों की रखवाली कर रहा था, तो अनेक अविश्वस्त ग्वालों ने मुझे हरा दिया।

**तात्पर्य :** इस श्लोक की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अर्जुन किस तरह ग्वालों की असभ्य टोली द्वारा हरा दिये गये और किस तरह इन संसारी ग्वालों ने भगवान् की पत्नियों के शरीर का स्पर्श किया होगा, जिनकी रखवाली अर्जुन कर रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विष्णुपुराण* तथा *ब्रह्मपुराण* से खोज करके इस विरोधाभास को मान्य ठहराया है। इन पुराणों में कहा गया है कि एक बार स्वर्ग की सुन्दरियों ने अपनी सेवा से अष्टावक्र मुनि को प्रसन्न कर लिया, तो मुनि ने उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें परमेश्वर पति के रूप में प्राप्त होंगे। अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा था, अतएव वे एक खास तरह से झुककर टेढ़ा चलते थे। फलतः देवताओं की पुत्रियाँ उनकी चाल देखकर अपनी हँसी रोक न पाई, तो मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया कि यदि उन्हें पति-रूप में भगवान् प्राप्त हो भी जायें, तो भी उनका अपहरण दुष्टों के द्वारा होगा। बाद में उन कन्याओं ने स्तुतियों द्वारा मुनि को फिर से प्रसन्न किया, तो मुनि ने फिर वरदान दिया कि अपहरण होने पर भी, उन्हें अपने अपने पति वापस मिल जायेंगे। अतएव मुनि के वचनों को सही बनाने के लिए स्वयं भगवान् ने अपनी पत्नियों का अपहरण अर्जुन की सुरक्षा में रहते हुए भी कर लिया, अन्यथा उन दुष्टों के स्पर्श करते ही सारी की सारी पत्नियाँ अदृश्य हो गई होतीं। इसके साथ ही जिन गोपियों ने कृष्ण की पत्नी बनने के लिए प्रार्थना की थी, वे भी अपनी-अपनी इच्छा पूरी होने पर अपने-अपने स्थानों पर लौट आईं। भगवान् कृष्ण के प्रस्थान के बाद उन्होंने चाहा कि उनके सारे संगी भगवद्धाम वापस आ जाँय और वे सभी विभिन्न अवस्थाओं में वापस बुला लिए गये।

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते  
 सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।  
 सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं  
 भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥ २१ ॥

## शब्दार्थ

तत्—वही; वै—निश्चय ही; धनुः—धनुष; ते इषवः—वही तीर; सः—वही; रथः—रथ; हयाः ते—वे ही घोड़े; सः अहम्—मैं वही अर्जुन हूँ; रथी—रथारूढ़ वीर; नृपतयः—सारे राजा; यतः—जिनको; आनमन्ति—नमस्कार किया करते थे; सर्वम्—सब; क्षणेन—एक क्षण भर में; तत्—वे सब; अभूत्—हो गये; असत्—व्यर्थ; ईश—ईश्वर के कारण; रिक्तम्—रिक्त होने से; भस्मन्—राख; हुतम्—घी की आहुति; कुहक-राद्धम्—जादूगरी से उत्पन्न धन; इव—सदृश; उप्तम्—बोया हुआ; ऊष्याम्—बंजर भूमि में।

मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वे ही तीर हैं, उन्हीं घोड़ों के द्वारा खींचा जानेवाला वही रथ है और उन्हें इस्तेमाल करनेवाला मैं वही अर्जुन हूँ, जिसके सामने सारे राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति में वे सब एक ही क्षण में शून्य हो गये हैं। यह वैसा ही है जैसे राख में घी की आहुति डालना, जादू की छड़ी से धन एकत्र करना या बंजर भूमि में बीज बोना।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं कि किसी को उधार ली गई पगड़ी पर गर्व नहीं करना चाहिए। सारी शक्तियाँ तथा बल परम स्रोत भगवान् कृष्ण से प्राप्त होते हैं। वे सब तब तक कार्यशील रहते हैं, जब तक भगवान् की इच्छा रहती है। उनके न चाहने पर, वे सब समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह सारी विद्युत् शक्ति बिजलीघर से प्राप्त होती है और ज्योंही बिजलीघर विद्युत् ऊर्जा देना बन्द कर देता है कि सारे बल्ब बेकार हो जाते हैं। ऐसी शक्तियाँ भगवान् की इच्छा से क्षण भर में उत्पन्न की जा सकती हैं या वापस ली जा सकती हैं। भगवान् के आशीष के बिना आधुनिक सभ्यता मात्र बच्चों का खेल है। जब तक माता-पिता बच्चे को खेलने देते हैं, तब तक सब कुछ ठीक-ठाक रहता है, लेकिन ज्योंही माता-पिता अपनी अनुमति वापस ले लेते हैं, बच्चे को खेलना बन्द करना पड़ता है। मानवीय सभ्यता तथा इसके सारे कार्यकलापों को भगवान् के परम आशीष का अनुगमन करना चाहिए। इस आशीष के बिना मानवीय सभ्यता की सारी प्रगति किसी शव को सजाने जैसा ही है। यहाँ पर कहा गया है कि मृत सभ्यता तथा उसके कार्यकलाप राख में घी डालने के तुल्य, जादू की छड़ी से धन जुटाने के तुल्य या बंजर भूमि में बीज बोने के तुल्य हैं।

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।

विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥ २२ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।

अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ २३ ॥

### शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; त्वया—आपके द्वारा; अनुपृष्टानाम्—पूछे गये; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; नः—हमारे; सुहृत्-पुरे—द्वारका नगरी में; विप्र—ब्राह्मण के; शाप—शाप से; विमूढानाम्—मूर्खों का; निघ्नताम्—मारे हुआ का; मुष्टिभिः—लाठियों द्वारा; मिथः—परस्पर; वारुणीम्—खमीर उठे चावल को; मदिराम्—शराब को; पीत्वा—पीकर; मद-उन्मथित—नशे में आकर; चेतसाम्—मानसिक स्थिति का; अजानताम्—न जानते हुए; इव—सदृश; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; चतुः—चार; पञ्च—पाँच; अवशेषिताः—अब बचे हुए।

हे राजन्, चूँकि आपने द्वारका नगरी के हमारे मित्रों तथा सम्बन्धियों के विषय में पूछा है, अतएव मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि वे सब ब्राह्मणों द्वारा शापित होकर, सड़े हुए चावलों से बनी शराब पीकर उन्मत्त हो उठे और एक-दूसरे को न पहचानने के कारण लाठियाँ लेकर परस्पर लड़ने लगे। अब केवल चार-पाँच को छोड़कर शेष सभी मर चुके हैं।

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।

मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥ २४ ॥

### शब्दार्थ

प्रायेण एतत्—प्रायः यह; भगवतः—भगवान् की; ईश्वरस्य—ईश्वर की; विचेष्टितम्—इच्छा से; मिथः—परस्पर; निघ्नन्ति—मारते हैं; भूतानि—जीवों को; भावयन्ति—तथा पालते हैं; च—भी; यत्—जिसका; मिथः—परस्पर।

वास्तव में यह सब भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप है कि कभी-कभी लोग एक दूसरे को मार डालते हैं और कभी एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार 'जीवन संघर्ष' तथा 'योग्यतम की दीर्घजीविता' प्राकृतिक नियम हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि प्राकृतिक नियम के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परम निर्देशन है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि भगवान् के निर्देशन में ही प्रकृति का नियम सम्पन्न होता है। अतएव जब भी विश्व में शान्ति रहती है, तो इसे भगवान् की सदिच्छा समझा जाता है और जब विश्व में उत्पात मचता है, तब भी भगवान् की परम इच्छा रहती है। भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती। अतएव जब-जब भगवान् द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन होता है तब-तब मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच युद्ध होता है। अतएव शान्ति का निश्चित मार्ग यही है कि भगवान् के द्वारा स्थापित नियमों का पालन किया जाय। स्थापित नियम यह है कि हम जो भी करें, जो भी खायें, जो भी यज्ञ करें या जो भी दान दें, वह भगवान् की पूर्ण तुष्टि के निमित्त किया जाए। भगवान् की

इच्छा के विरुद्ध न तो कुछ किया जाय, न खाया जाय, न यज्ञ किया जाय और न दान दिया जाय। हमें विवेक से उन कार्यों में, जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा वे कार्य जिनसे भगवान् रुष्ट होते हैं, अन्तर करना सीखना चाहिए। इसी तरह किसी कर्म का निर्णय भगवान् की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से किया जाता है। इसमें वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता; हमें सदैव भगवान् की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा कर्म *योगः कर्मसु कौशलम्* कहलाते हैं अर्थात् किए गए कर्म जो भगवान् से संबद्ध होते हैं। यही है किसी वस्तु को ठीक से सम्पन्न करने की कला।

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।

दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥ २५ ॥

एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः ।

यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

जलौकसाम्—जलचरो का; जले—जल में; यद्वत्—जिस तरह; महान्तः—बड़ा प्राणी; अदन्ति—निगल जाते हैं; अणीयसः—छोटा प्राणी; दुर्बलान्—दुर्बल को; बलिनः—बलवान्; राजन्—हे राजन्; महान्तः—सबसे बलवान्; बलिनः—कम बली; मिथः—द्वन्द्व में; एवम्—इस तरह; बलिष्ठैः—सर्वाधिक बलवान् द्वारा; यदुभिः—यदुवंशियों द्वारा; महद्भिः—सर्वाधिक शक्तिशाली; इतरान्—सामान्य लोग; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; यदून्—सारे यदुवंशियों; यदुभिः—यदुओं द्वारा; अन्योन्यम्—परस्पर; भू-भारान्—धरती का भार; सञ्जहार—उतार दिया; ह—भूतकाल में।

हे राजन्, जिस तरह समुद्र में बड़े तथा बलशाली जलचर, छोटे-मोटे तथा निर्बल जलचरों को निगल जाते हैं, उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने भी धरती का भार हलका करने के लिए, निर्बल यदु को मारने के लिए बलशाली यदु को और छोटे यदु को मारने के लिए बड़े यदु को भिड़ा दिया है।

तात्पर्य : भौतिक जगत का नियम है—जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष एवं योग्यतम का बचे रहना—क्योंकि भौतिक जगत में बद्धजीवों के मध्य असमानता है, जो भौतिक साधनों पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण है। भौतिक प्रकृति पर प्रभुता जताने की यही प्रवृत्ति बद्ध जीवन का मूल कारण है। ऐसे बनावटी प्रभुओं की सुविधा के लिए ही भगवान् की भ्रामक शक्ति ने बद्धजीवों में प्रत्येक योनि के अन्तर्गत सबल तथा निर्बल की सृष्टि करके अन्तर उत्पन्न कर दिया है। भौतिक प्रकृति तथा सृष्टि पर प्रभुता जताने से ही असमानता की सृष्टि हुई और इसीसे जीवन-संघर्ष का नियम आया। आध्यात्मिक

जगत में न तो ऐसी असमानता होती है, न ऐसा जीवन-संघर्ष होता है। आध्यात्मिक जगत में जीवन-संघर्ष इसलिए नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है। वहाँ असमानता इसलिए नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा करना चाहता है और कोई भी खुद लाभ लेने के लिए भगवान् बनने की नकल नहीं करता। भगवान् हर वस्तु के, यहाँ तक कि जीवों के भी स्रष्टा होने के कारण प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं, लेकिन भौतिक जगत में माया के जादू से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ का यह नित्य सम्बन्ध भुला दिया जाता है। अतएव जीव 'जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम का बचे रहना' नियमों के द्वारा बद्ध हो जाता है।

देशकालार्थयुक्तानि हत्तापोपशमानि च ।

हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

देश—अवकाश; काल—समय; अर्थ—महत्ता; युक्तानि—से युक्त; हृत्—हृदय; ताप—जलन; उपशमानि—बुझाना; च—तथा; हरन्ति—आकर्षित कर रहे हैं; स्मरतः—स्मरण करने से; चित्तम्—मन को; गोविन्द—हर्ष के परम पुरुष; अभिहितानि—के द्वारा कहा गया; मे—मुझको।

अब मैं भगवान् ( गोविन्द ) द्वारा मुझे दिये गये उपदेशों की ओर आकृष्ट हूँ, क्योंकि वे देश-काल की समस्त परिस्थितियों में हृदय की जलन को शान्त करनेवाले आदेशों से परिपूर्ण बनाए गये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन का संकेत *भगवद्गीता* के उपदेश की ओर है, जिसे भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर प्रदान किया था। भगवान् के द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश न केवल अर्जुन के लाभ के लिए थे, अपितु समस्त देशों तथा समस्त काल के लिए हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा कही गयी *भगवद्गीता* समस्त वैदिक वाङ्मय का सार है। जिन लोगों के पास *उपनिषद्*, *पुराण* तथा *वेदान्त-सूत्र* सरीखे विशाल वैदिक ग्रंथों को पढ़ने के लिए समय नहीं है, उनके लिए स्वयं भगवान् ने यह ग्रंथ सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ महान् पौराणिक महाकाव्य *महाभारत* के अन्तर्गत आता है, जिसे विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लोगों के लिए, यथा स्त्रियों, श्रमिकों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्चवर्गीय वैश्यों की अयोग्य सन्तानों के लिए तैयार किया गया था। अर्जुन के मन में कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में जो समस्या उठी थी, वह *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से हल हो गई थी। अब, जबकि भगवान्

पृथ्वी के लोगों की दृष्टि से ओझल हो चुके थे और अर्जुन अपने पराक्रम तथा प्राधान्य को खोने जा रहा था, तो उसने पुनः *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाओं का स्मरण करना चाहा, क्योंकि वह लोगों को शिक्षा देना चाह रहा था कि न केवल समस्त प्रकार के मानसिक क्लेशों में सान्त्वना दिलाने के लिए, अपितु संकट उपस्थित होने पर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से निकलने के लिए *भगवद्गीता* से निराकरण किया जा सकता है।

कृपासिन्धु भगवान् अपने पीछे *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाएँ इसीलिए छोड़ते गये, जिससे मनुष्य भगवान् के भौतिक दृष्टि से अदृश्य होने पर भी उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर सके। भौतिक इन्द्रियों से परमेश्वर का अनुमान कोई नहीं लगा सकता, लेकिन भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से पदार्थ के माध्यम से बद्धजीवों की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति किये जाने के लिए अवतार ले सकते हैं, क्योंकि पदार्थ भी भगवान् की प्रकट शक्ति का दूसरा रूप है। इस तरह *भगवद्गीता* या भगवान् की कोई भी प्रामाणिक शास्त्रीय शब्द-अभिव्यक्ति भी भगवान् का अवतार है। भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्ति में और स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी मनुष्य *भगवद्गीता* से वही लाभ उठा सकता है, जो अर्जुन ने भगवान् की व्यक्तिगत उपस्थिति में उठाया था।

कोई भी श्रद्धालु मनुष्य जो भव-बन्धन से मुक्त होने का इच्छुक रहता है, वह *भगवद्गीता* से बहुत आसानी से लाभ उठा सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया मानो उसे इसकी आवश्यकता थी। *भगवद्गीता* में पाँच महत्त्वपूर्ण ज्ञान की बातें खोज निकाली गई, हैं जिनका सम्बन्ध (१) परमेश्वर (२) जीव (३) प्रकृति (४) देश और काल तथा (५) कर्म-विधान से है। इनमें से परमेश्वर तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। दोनों का अन्तर पूर्ण तथा उसके अंश के अन्तर-जैसा है। प्रकृति जड़ पदार्थ है, जिसमें तीन विभिन्न गुणों की अन्तःक्रिया होती रहती है और शाश्वत समय तथा असीम अवकाश भौतिक प्रकृति के जगत के परे माने जाते हैं। जीव के कार्यकलाप विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं, जो जीव को प्रकृति के भीतर तथा बाहर जकड़ सकती हैं या मुक्त कर सकती हैं। इन सभी विषयों की संक्षिप्त व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है और इसके आगे प्रबुद्ध करने के लिए *श्रीमद्भागवत* में भी उनका विस्तार किया गया है। इन पाँच विषयों में से परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा देश-काल शाश्वत हैं, लेकिन इनमें से जीव, प्रकृति तथा काल परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं, जो स्वयं

परम तथा किसी अन्य नियंत्रण से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं। परमेश्वर परम नियन्ता हैं। जीव की भौतिक गतिविधि अनादि है, लेकिन इसे आध्यात्मिक गुण में स्थानान्तरित करके ठीक किया जा सकता है। इस तरह यह भौतिक गुणात्मक प्रतिक्रियाओं में नहीं रह जाती। भगवान् तथा जीव दोनों प्रबुद्ध हैं और उनकी पहचान जीवित शक्ति के रूप में होती है; लेकिन प्रकृति की अवस्था, जिसे *महत् तत्त्व* कहते हैं, उसके अन्तर्गत जीव अपनी गलत से पहचान करता है कि वह भगवान् से भिन्न है। वैदिक वाङ्मय की पूरी योजना ऐसी भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के निमित्त है और इस तरह जीव को भौतिक पहचान के भ्रम (मोह) से मुक्त करती है। जब यह भ्रम (मोह) ज्ञान तथा वैराग्य से समूल नष्ट हो जाता है, तो जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों का उत्तरदायित्व सँभालता है। भगवान् में भोग की भावना वास्तविक है, लेकिन जीव में ऐसी भावना मात्र मनचाही इच्छा है। भावना का यह अन्तर ही दो स्वरूपों का— भगवान् तथा जीव का—अन्तर है। अन्यथा भगवान् और जीव में कोई अन्तर नहीं होता। अतः जीव सदैव एकसाथ एक तथा भिन्न होता है। *भगवद्गीता* का सारा उपदेश एकमात्र इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

*भगवद्गीता* में भगवान् तथा जीव दोनों को सनातन कहा गया है और भगवान् का धाम, जो भौतिक आकाश से बहुत दूर है, उसे भी सनातन बताया गया है। जीव को भगवान् के सनातन जगत में रहने के लिए आमंत्रित किया जाता है और जहाँ आत्मा की मुक्त क्रियाशीलता प्रकट होती है, उस भगवान् के धाम में पहुँचने की विधि को सनातन धर्म कहा जाता है। किन्तु भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त हुए बिना कोई भगवद्-धाम नहीं पहुँच सकता। *भगवद्गीता* हमें सिद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करने के सूत्र उपलब्ध करती है। भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त होने की विधि अलग-अलग अवस्थाओं में सकाम कर्म से लेकर, अनुभवसिद्ध दर्शन, भक्तिमय सेवा तथा दिव्य अनुभूति कहलाती है। ऐसी दिव्य अनुभूति तभी सम्भव है, जब उपर्युक्त सारी बातें भगवान् के साथ जोड़ दी जाँय। वेदों द्वारा निर्दिष्ट मनुष्यों के कर्तव्य धीरे-धीरे बद्धजीव के पापी मन को धीरे-धीरे शुद्ध कर सकते हैं और उसे ज्ञान की अवस्था तक ले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की शुद्ध अवस्था भगवान् की भक्तिमय सेवा का आधार बनती है। जब तक मनुष्य जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ता रहता है, तब तक उसकी जानकारी ज्ञान या शुद्ध ज्ञान कहलाती है, किन्तु जीवन के वास्तविक हल की अनुभूति होने

पर, मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाता है। *भगवद्गीता* का शुभारम्भ जीवन की समस्याओं से होता है, जिसमें पदार्थ के तत्त्वों को आत्मा से अलग करके देखा जाता है और हर तर्क से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा सभी परिस्थितियों में अविनाशी है और पदार्थ का बाह्य आवरण, मन तथा शरीर परिवर्तित होकर फिर से इस संसार में आते हैं, जो दुखों से भरा हुआ होता है। अतएव *भगवद्गीता* विभिन्न प्रकार के कष्टों को समाप्त करने के लिए है और अर्जुन ने इस महान् ज्ञान का आश्रय लिया, जो उन्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रदान किया जा चुका था।

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।

सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥ २८ ॥

**शब्दार्थ**

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—उपदेशों का चिन्तन करते हुए; जिष्णोः—भगवान् के; कृष्ण-पाद—कृष्ण के चरण; सरोरुहम्—कमलों की तरह के; सौहार्देन—घनिष्ठ मित्रता से; अति-गाढेन—अत्यधिक घनिष्ठता में; शान्ता—शान्त; आसीत्—हो गया; विमला—किसी भौतिक कल्मष का रंज भी नहीं; मतिः—मन।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् के उपदेश, जो अत्यधिक घनिष्ठ मित्रता में प्रदान किये गये थे उसके विषय में सोचने में तथा उनके चरणकमलों का चिन्तन करने में तल्लीन अर्जुन का मन शान्त और समस्त भौतिक कल्मष से रहित हो गया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनका गहन ध्यान यौगिक समाधि के समान ही है। भगवान् अपने नाम, रूप, गुण, लीलाओं, पार्षदों तथा विशिष्ट कर्मों से अभिन्न हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में उसे दिये गये उपदेशों का चिन्तन करने लगा। उन्हीं उपदेशों से अर्जुन के मन का भौतिक कल्मष नष्ट होने लगा। भगवान् सूर्य के समान हैं। सूर्योदय का अर्थ है अंधकार या अज्ञान का तत्काल दूर होना और भक्त के मन में भगवान् के प्राकट्य से तुरन्त ही कष्टप्रद भौतिक प्रभाव दूर हो जाते हैं। अतएव संसार के समस्त कल्मष से सुरक्षा के लिए भगवान् चैतन्य ने भगवान् के नाम का निरन्तर कीर्तन करने के लिए संस्तुति की है। निस्सन्देह, भक्त के लिए भगवान् का वियोग कष्टप्रद होता है। लेकिन इसका सम्बन्ध भगवान् से है, अतएव इसका विशेष दिव्य प्रभाव पड़ता है, जो



हृदय को शान्त बनाता है। वियोग की अनुभूति दिव्य आनन्द का स्रोत भी बनती है और इसकी तुलना कभी भी कलुषित भौतिक वियोग से नहीं की जा सकती।

वासुदेवाद्दृश्यनुध्यानपरिवृंहितरंहसा ।

भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥ २९ ॥

### शब्दार्थ

वासुदेव-अद्भि—भगवान् के चरणकमल; अनुध्यान—निरन्तर स्मरण करने से; परिवृंहित—विस्तीर्ण; रंहसा—अत्यन्त वेग से; भक्त्या—भक्ति से; निर्मथित—शान्त हुआ; अशेष—असीम; कषाय—प्रहार; धिषणः—धारणा; अर्जुनः—अर्जुन।

अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण किये जाने से उसकी भक्ति तेजी से बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप उसके विचारों का सारा मैल दूर हो गया।

तात्पर्य : मन की भौतिक इच्छाएँ भौतिक कल्मष के कूड़ा-करकट के समान हैं। ऐसे कल्मष से जीव को अनेक ग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तुओं का सामना करना होता है, जो आध्यात्मिक स्वरूप के अस्तित्व को ही हतोत्साहित कर देती है। बद्धजीव जन्म-जन्मांतर तक अनेक रुचिकर तथा अरुचिकर तत्त्वों में फँसा रहता है, जो मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। वे हमारी भौतिक इच्छाओं की प्रतिक्रियास्वरूप एकत्र होते रहते हैं, किन्तु जब हम भक्तिमय सेवा के द्वारा दिव्य भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, तो सारी इच्छाओं के नग्न रूप प्रकट होते हैं और जीव की बुद्धि सही अर्थ में शान्त हो जाती है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों की ओर अपना ध्यान मोड़ा, त्योंही भगवान् के साथ नित्य संगति का असली रंग प्रकट हुआ और इस तरह उसे सारे भौतिक कल्मषों से मुक्ति का आभास हुआ।

गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् सङ्ग्राममूर्धनि ।

कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

गीतम्—उपदिष्ट; भगवता—भगवान् द्वारा; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यत्—जो; तत्—वह; सङ्ग्राम-मूर्धनि—युद्ध के बीच में; काल-कर्म—समय तथा कर्म; तमः-रुद्धम्—ऐसे अंधकार से घिरा; पुनः अध्यगमत्—पुनः स्मरण हो आया; प्रभुः—अपनी इन्द्रियों का स्वामी।

भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों के कारण तथा उनकी अनुपस्थिति से ऐसा लगा कि अर्जुन भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को भूल गया हो। लेकिन, वास्तव में बात ऐसी न थी और वह पुनः अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन गया।

तात्पर्य : बद्धजीव शाश्वतकाल के प्रभाव से अपने सकाम कर्मों में लिपटा हुआ रहता है। किन्तु जब परमेश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे काल द्वारा—भूत, वर्तमान तथा भविष्य की भौतिक धारणा द्वारा—प्रभावित नहीं होते। भगवान् के कार्यकलाप शाश्वत हैं और वे उनकी *आत्म-माया* या अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। भगवान् की सारी लीलाएँ या कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, किन्तु अबूझ लोगों को ये भौतिक कार्यकलापों जैसे दिखते हैं। ऐसा लगता है कि अर्जुन तथा भगवान् कृष्ण दूसरे पक्ष की ही तरह युद्ध में लगे थे, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने अवतार के उद्देश्य को तथा अपने शाश्वत सखा अर्जुन की संगति को पूरा कर रहे थे। अतएव ऊपर से भौतिक लगनेवाले अर्जुन के ये कार्यकलाप उसे उसकी दिव्य स्थिति से दूर नहीं ले गये, अपितु इसके विपरीत उसे *भगवद्गीता* की उसकी चेतना का पुनःस्मरण दिलाया जैसे भगवान् ने उसे स्वयं सुनाया था। चेतना की इस पुनः जागृति का आश्वासन भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६५) में इस प्रकार दिया है—

*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।*

*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥*

मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करे; मन से उन्हें भूले नहीं। मनुष्य को भगवद्भक्त बनकर उनको नमस्कार करना चाहिए। जो इस तरह रहता है, उसे भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त होने पर भगवान् का आशीष प्राप्त होता है। इस चिरन्तन सत्य के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। चूँकि अर्जुन उनका विश्वासपात्र तथा मित्र था, अतएव उससे यह रहस्य प्रकट किया गया।

अर्जुन को अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने की कोई इच्छा नहीं थी, लेकिन उसने भगवान् के ध्येय के कारण युद्ध किया। वह सदा उनके ध्येय की ही पूर्ति में लगा रहा, अतएव भगवान् के प्रयाण के बाद वह उसी दिव्य स्थिति में रहा, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह *भगवद्गीता* के सारे उपदेशों को भूल गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन के कार्यकलापों और भगवान् के ध्येय में

तालमेल पैदा करे। ऐसा करने से उसका भगवद्धाम लौटना निश्चित है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ।

लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१ ॥

### शब्दार्थ

विशोकः—शोक से रहित; ब्रह्म-सम्पत्त्या—आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी होने से; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटकर; द्वैत-संशयः—द्वैत के संशय से; लीन—संलग्न; प्रकृति—भौतिक प्रकृति; नैर्गुण्यात्—अध्यात्म में रहने से; अलिङ्गत्वात्—भौतिक शरीर से विहीन होने के कारण; असम्भवः—जन्म तथा मृत्यु से मुक्त।

आध्यात्मिक सम्पत्ति से युक्त होने के कारण उसके द्वैत के संशय पूर्ण रूप से छिन्न हो गये।

इस तरह वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त होकर अध्यात्म में स्थित हो गया। अब जन्म तथा मृत्यु के पाश में उसके फँसने की कोई आशंका न थी, क्योंकि वह भौतिक रूप से मुक्त हो चुका था।

तात्पर्य : द्वैत के संशय देहात्म-बुद्धि की गलत धारणा से प्रारम्भ होते हैं, क्योंकि अल्पज्ञ लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। हमारी अज्ञानता का सबसे मूर्खतापूर्ण अंश यह है कि हम इस भौतिक शरीर को ही आत्मा के रूप में पहचानने लगते हैं। अज्ञानवश, शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी निजी मान लिया जाता है। “मैं और मेरा” की भ्रान्तधारणा से उत्पन्न संशय—दूसरे शब्दों में, “मेरा शरीर,” “मेरे सम्बन्धी,” “मेरी सम्पत्ति,” “मेरी पत्नी,” “मेरी सन्तान,” “मेरा धन,” “मेरा देश,” “मेरा समाज” तथा इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों भ्रामक विचार बद्धजीव के लिए मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशों को आत्मसात् करने से मनुष्य निश्चित रूप से ऐसे मोह से छुटकारा पा सकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान यह जान लेना है कि भगवान् वासुदेव या भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं, जिसमें अपना आत्मा भी सम्मिलित है। प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अतएव पूर्ण ज्ञान के प्राप्त होते ही द्वैत का भाव समाप्त हो जाता है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण किया, जिसमें वह दक्ष था, त्योंही उसके शाश्वत-सखा भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में उसका भौतिक बोध मिट गया। उसे यह अनुभव हुआ कि भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अपने रूप, लीलाओं, गुणों इत्यादि के द्वारा अब भी

उसके समक्ष उपस्थित हैं। वह अनुभव कर सका कि उसके मित्र भगवान् कृष्ण विभिन्न अद्वैत शक्तियों में अपनी दिव्य उपस्थिति के कारण अब भी उसके समक्ष उपस्थित थे और देश-काल के प्रभाव के अन्तर्गत शरीर के अन्य परिवर्तन के द्वारा भगवान् की संगति को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं था। परम ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य इसी जीवन में भी भगवान् की निरन्तर संगति में रह सकता है, यदि वह केवल परमेश्वर का श्रवण, कीर्तन, चिन्तन तथा पूजन करे। इसी जीवन में मनुष्य उन्हें देख सकता है, उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है यदि वह केवल भक्तियोग द्वारा, जो कि उनका श्रवण करने से प्रारम्भ होता है, *अद्वयज्ञान* भगवान् को जान ले। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि केवल भगवन्नाम-कीर्तन से ही शुद्ध चेतना के दर्पण की धूल को हटाया जा सकता है और इस धूल के हटते ही मनुष्य तत्काल समस्त भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। भौतिक बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ है, आत्मा को मुक्त करना। अतएव ज्योंही मनुष्य परम ज्ञान में स्थित होता है, त्योंही उसकी देहात्मबुद्धि दूर हो जाती है या वह जीवन के मिथ्याबोध से उबर जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति में शुद्ध आत्मा का कार्य फिर से चालू हो जाता है। जीव की यह व्यावहारिक अनुभूति, प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों से उसके मुक्त होने पर सम्भव हो पाती है। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त तुरन्त भगवद्भाम को चला जाता है और भक्त की पुनः बद्ध जीवन में फँसने की कोई संभावना नहीं रह जाती। जब तक मनुष्य में प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा नियत की गई भक्तिमय सेवा के द्वारा आवश्यक आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसे भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं हो पाता। अर्जुन को यह अवस्था कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में बहुत ही पहले प्राप्त हो चुकी थी, अतएव ज्योंही उसे भगवान् की अनुपस्थिति का अनुभव हुआ कि तुरन्त ही उसने *भगवद्गीता* के उपदेशों का आश्रय लिया की और इस तरह वह अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। यह *विशोक* की अवस्था अर्थात् समस्त शोक तथा चिन्ता से मुक्त होने की अवस्था है।

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।

स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥

## शब्दार्थ

निशाम्य—कहकर; भगवत्—भगवान् के विषय में; मार्गम्—भगवान् के प्रकट तथा अप्रकट होने के रास्ते; संस्थाम्—अन्त; यदु-कुलस्य—राजा यदु के वंश का; च—भी; स्वः—भगवान् का धाम; पथाय—रास्ते में; मतिम्—इच्छा; चक्रे—ध्यान दिया; निभृत-आत्मा—अकेले, एकान्त; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने।

भगवान् कृष्ण के स्वधाम गमन को सुनकर तथा यदुवंश के पृथ्वी के अस्तित्व का अन्त समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्भ्राम जाने का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस संसार के लोगों की दृष्टि से भगवान् के दूर चले जाने की खबर सुनकर, महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना ध्यान *भगवद्गीता* के उपदेशों की ओर मोड़ा। वे भगवान् के प्राकट्य तथा प्रयाण की विधि के विषय में सोचने लगे। इस मर्त्य ब्रह्माण्ड में भगवान् के प्रकट होने तथा उनके अन्तर्धान होने का उद्देश्य पूर्ण रूप से भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है। वे किसी उच्चतर शक्ति द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य नहीं हैं, जिस प्रकार जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य होते हैं। जब भी भगवान् चाहते हैं, वे कहीं भी और सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं। इससे किसी अन्य स्थान पर उनके प्राकट्य तथा तिरोधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सूर्य के समान हैं। सूर्य स्वेच्छा से किसी स्थान पर उदय और अस्त होता है, किन्तु इससे अन्य स्थानों पर उसकी उपस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य पश्चिम गोलार्ध में अस्त हुए बिना भारत में प्रातःकाल उदय होता है। सूर्य पूरे सौर मण्डल में सर्वत्र उपस्थित रहता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक स्थान में सूर्य निश्चित समय पर प्रातः उदय होता है और शाम को निश्चित समय पर अस्त होता है। जब सूर्य के लिए समय की सीमा कोई अर्थ नहीं रखती, तो फिर परमेश्वर के विषय में क्या कहा जाय, जो सूर्य के भी स्रष्टा तथा नियामक हैं। अतएव *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान को वास्तव में समझ लेता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है और चिन्मय आकाश में स्थित हो जाता है, जहाँ पर वैकुण्ठ के ग्रह हैं। वहाँ पर ऐसे मुक्त व्यक्ति जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के भय से रहित होकर शाश्वत रूप से रह सकते हैं। आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तथा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा में निरन्तर लगे रहनेवाले सारे लोग सदैव तरुण बने रहते हैं, क्योंकि वहाँ न बुढ़ापा है, न रोग और न मृत्यु। चूँकि वहाँ मृत्यु नहीं होती, अतएव वहाँ जन्म भी नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एकमात्र भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान को समझ लेने पर मनुष्य जीवन की सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतएव

महाराज युधिष्ठिर भी भगवद्धाम वापस जाने के विषय में सोचने लगे। भगवान् पृथ्वी पर या अन्य किसी लोक में अपने पार्षदों के साथ प्रकट होते हैं, जो उनके साथ नित्य निवास करते हैं और यदुवंश के सारे सदस्य जो भगवान् की लीलाओं में सहायक बने रहे, उनके पार्षद ही थे। उसी तरह महाराज युधिष्ठिर, उनके भाई तथा उनकी माता इत्यादि भी उनके नित्य पार्षद ही थे। चूँकि भगवान् तथा उनके पार्षदों का प्राकट्य तथा तिरोधान दिव्य होता है, अतएव प्राकट्य तथा तिरोधान के बाह्य लक्षणों से किसी को मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए।

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं  
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।  
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे  
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती ने; अपि—भी; अनुश्रुत्य—सुनकर; धनञ्जय—अर्जुन द्वारा; उदितम्—कथित; नाशम्—अन्त; यदूनाम्—यदुवंश का; भगवत्—भगवान् का; गतिम्—तिरोधान; च—भी; ताम्—उन सबको; एक-अन्त—अनन्य; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अधोक्षजे—अध्यात्म में; निवेशित-आत्मा—पूर्ण मनोयोग से; उपरराम—मुक्त हो गयी; संसृतेः—भौतिक अस्तित्व से।

अर्जुन द्वारा यदुवंश के नाश तथा भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की बात सुनकर, कुन्ती ने पूर्ण मनोयोग से दिव्य भगवान् की भक्ति में अपने को लगा दिया और इस तरह संसार के आवागमन से मोक्ष प्राप्त किया।

**तात्पर्य :** सूर्य के अस्त होने का यह अर्थ नहीं होता कि सूर्य का अन्त हो गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इसी प्रकार किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के कार्य के अन्त का अर्थ केवल इतना ही होता है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल हो गये हैं। यदुवंश के अन्त का यह भी अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ हमारी दृष्टि से अप्रकट हो जाता है। जिस तरह महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय कर लिया, उसी तरह कुन्ती ने भी किया। अतएव वे भगवान् की दिव्य भक्ति में लग गईं, जिसमें वर्तमान भौतिक इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश-पत्र निश्चित हो सके। भगवान् की भक्ति का शुभारम्भ इस देह के आध्यात्मिकीकरण की शुरुआत है और इस तरह भगवान् के अनन्य भक्त का इस देह से सारा

भौतिक सम्पर्क छूट जाता है। भगवद्धाम कोई कपोल-कल्पना नहीं है, जैसाकि नास्तिक या अज्ञानी लोग सोचते हैं। लेकिन वहाँ तक स्फुटनिक या अन्तरिक्ष-यान जैसे किसी भौतिक साधन द्वारा पहुँचा नहीं जा सकता। लेकिन इस शरीर को त्यागने के बाद अवश्य ही वहाँ पहुँचा जा सकता है और मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय सेवा के अभ्यास से वह भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करे। यह भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश पत्र का कार्य करती है और कुन्ती ने यही किया।

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।

कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥ ३४ ॥

### शब्दार्थ

यया—जिससे; अहरत्—छीन लिया; भुवः—संसार का; भारम्—भार, बोझा; ताम्—उस; तनुम्—शरीर को; विजहौ—त्याग दिया; अजः—अजन्मा ने; कण्टकम्—काँटे को; कण्टकेन—काँटे से; इव—सदृश; द्वयम्—दोनों; च—भी; अपि—यद्यपि; ईशितुः—नियंत्रण करते हुए; समम्—समान।

सर्वोपरि अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश के सदस्यों से अपना-अपना शरीर त्याग करवा दिया और इस तरह उन्होंने पृथ्वी के भार को उतारा। यह कार्य काँटे को काँटे से निकालने जैसा था, यद्यपि नियन्ता के लिए दोनों एक से हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि शौनक तथा अन्य ऋषि जो नैमिषारण्य में सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे थे, यदुओं के इस प्रकार मदोन्मत्त होकर मरने की बात सुनकर प्रसन्न नहीं थे। अतएव उनकी मनोव्यथा को दूर करने के लिए सूत गोस्वामी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान् ने यदुवंश के सदस्यों से अपना शरीर त्याग करवा दिया, जिससे वे संसार के भार को हल्का कर सकें। भगवान् तथा उनके नित्य संगी इस धरा पर पृथ्वी का भार उतारने में प्रशासनिक देवताओं की सहायता करने के लिए प्रकट हुए थे। अतएव उन्होंने अपने कतिपय विश्वासपात्र देवताओं को यदुवंश में प्रकट होने और उन्हें अपने महान् उद्देश्य में सेवा करने के लिए बुलाया था। उद्देश्य पूरा हो जाने पर भगवान् की इच्छा से देवताओं ने मदोन्मत्त होकर परस्पर लड़भिड़ कर अपने भौतिक शरीर त्याग दिये। देवता *सोमरस* पीने के अभ्यस्त हैं, अतएव शराब तथा मादक द्रव्यों का सेवन उनसे अछूता नहीं है। कभी-कभी उन्हें उन्मत्तता के कारण कष्ट उठाने पड़े थे। एक बार मदोन्मत्त होने के कारण कुबेर के पुत्र नारद के शाप-भाजन बने, लेकिन बाद में भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से उन्हें असली रूप

प्राप्त हो सका। यह कथा दशम स्कंध में मिलेगी। परमेश्वर के लिए असुर तथा देवता (सुर) दोनों समान हैं, लेकिन देवता भगवान् के आज्ञाकारी हैं, किन्तु असुर नहीं हैं। अतएव काँटे से काँटा निकालने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। एक काँटा जो भगवान् के पाँव में चुभता है, वह निश्चय ही उन्हें कष्टदायक है और दूसरा काँटा जो पीड़ादायक तत्त्वों को निकालता है, निश्चय ही भगवान् की सेवा करता है। यद्यपि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, फिर भी जो भगवान् को चुभता है, वह असुर है और जो स्वेच्छा से सेवक है, वह देवता कहलाता है। भौतिक जगत में देवता तथा असुर सदा ही लड़ते रहते हैं और देवता सदा ही भगवान् द्वारा असुरों के हाथों से बचाये जाते हैं। ये दोनों ही भगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। यह संसार दो प्रकार के जीवों से भरा हुआ है और भगवान् का उद्देश्य सदैव देवताओं की रक्षा करना तथा जब भी संसार में आवश्यकता होती है तब असुरों का विनाश करना है। इस तरह दोनों का कल्याण होता है।

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः ।

भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥ ३५ ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; मत्स्य—आदि—मत्स्य अवतार इत्यादि.; रूपाणि—स्वरूप; धत्ते—स्वीकार करते हैं; जह्यात्—ऊपर से छोड़ देते हैं; यथा—जिस तरह; नटः—नट, जादूगर; भू-भारः—संसार का भार; क्षपितः—उद्धार; येन—जिससे; जहौ—जाने दिया; तत्—उस; च—भी; कलेवरम्—शरीर को।

परमेश्वर ने जिस शरीर को पृथ्वी का भार कम करने के लिए प्रकट किया था, उसे उन्होंने छोड़ दिया। वे एक जादूगर के समान विभिन्न शरीरों को, यथा मत्स्य अवतार तथा अन्य अवतारों में धारण करने के लिए एक शरीर को छोड़ते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न तो निर्विशेष हैं, न निराकार, किन्तु उनका शरीर उनसे अभिन्न है। अतएव वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के स्वरूप जाने जाते हैं। बृहद् वैष्णव तंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कोई भगवान् कृष्ण के स्वरूप को भौतिक शक्ति से बना मानता है, उसे समाज से सभी प्रकार से अलग कर दिया जाना चाहिए और यदि संयोगवश कोई ऐसे अविश्वासी का मुँह देख ले, तो उसे वस्त्र-समेत नदी में कूद कर अपने को स्वच्छ करना चाहिए। भगवान् को *अमृत* या मृत्युरहित कहा जाता है, क्योंकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में भगवान् का मरना या



शरीर त्याग करना एक जादूगर की जादूगरी जैसा है। जादूगर अपनी कलाबाजियों से दिखाता है कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, वह जलकर राख हो गया है या सम्मोहन द्वारा बेहोश हो गया, लेकिन ये सब झूठे प्रदर्शन मात्र होते हैं। वास्तव में जादूगर का शरीर न तो खंड-खंड होता है, न जलकर राख होता है, न वह मृत होता है, न जादू प्रदर्शन की किसी भी अवस्था के समय वह बेहोश रहता है। इसी प्रकार भगवान् के भी अनन्त शाश्वत रूप हैं, जिनमें इस ब्रह्माण्ड में प्रदर्शित मत्स्य अवतार भी एक है। चूँकि ब्रह्माण्ड अनन्त हैं अतएव यह मत्स्य अवतार किसी न किसी ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ प्रदर्शित कर रहा होगा। इस श्लोक में विशिष्ट शब्द धत्ते प्रयुक्त है (जिसका अर्थ “शाश्वत रूप से स्वीकृत” है धित्वा “विशेष अवसर के लिए स्वीकृत” शब्द ठीक नहीं है)। भाव यह है कि भगवान् मत्स्य अवतार की सृष्टि नहीं करते, उनका यह रूप शाश्वत होता है और ऐसे अवतार के प्राकट्य से तथा अन्तर्धान होने से विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि होती है। *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् कहते हैं, “निर्विशेषवादी सोचते हैं कि मेरा कोई स्वरूप नहीं होता, मैं निराकार हूँ, लेकिन, चूँकि इस समय मैंने एक प्रयोजन पूरा करने के लिए स्वरूप स्वीकार किया है, अतएव मैं प्रकट हूँ। लेकिन ऐसे चिन्तक वास्तव में बुद्धिहीन होते हैं। भले ही वे वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान हों, लेकिन वे मेरी अचिन्त्य शक्तियों एवं मेरे शाश्वत स्वरूपों के प्रति एक तरह अनजान रहते हैं। इसका कारण यह है कि मैं अपने योग-आवरण से अभक्तों के समक्ष स्वयं को प्रकट न करने का अधिकार बनाए रखता हूँ। अतएव अल्पज्ञानी मूर्ख मेरे शाश्वत रूप से अनजान रहते हैं, जो कभी भी नष्ट नहीं होता और अजन्मा है।” *पद्मपुराण* में यह कहा गया है कि जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और सदैव उन पर क्रुद्ध रहते हैं, वे भगवान् के वास्तविक तथा शाश्वत रूप को जानने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। *भागवत्* में भी कहा गया है कि मल्लों के समक्ष भगवान् वज्र के समान प्रकट हुए। जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया, तो वह ब्रह्मज्योति की चकाचौंध से उन्हें कृष्ण के रूप में नहीं देख पाया। अतः कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के समक्ष वज्र के रूप में भगवान् का क्षणिक प्राकट्य अथवा शिशुपाल के समक्ष भगवान् का जाज्वल्यमान स्वरूप भगवान् ने त्याग दिया, लेकिन जादूगर के रूप में भगवान् शाश्वत रूप से विद्यमान हैं और किसी दशा में नष्ट नहीं होते। ऐसे रूप असुरों के समक्ष ही कुछ समय के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं, किन्तु जब भगवान् ऐसे प्रदर्शन को बन्द कर देते हैं, तो असुर लोग

सोचते हैं कि अब ईश्वर नहीं हैं, जिस प्रकार मूर्ख दर्शकगण सोचते हैं कि जादूगर जल गया या खण्ड-खण्ड हो गया। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव वे न कभी मारे जाते हैं और न कभी अपना दिव्य शरीर बदलते हैं।

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं  
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।  
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-  
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

यदा—जब; मुकुन्दः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; जहौ—छोड़ा; स्व-तन्वा—अपने उसी शरीर के साथ; श्रवणीय-सत्-कथः—उनके विषय में श्रवण करने योग्य है; तदा—उस समय; अहः एव—उसी दिन से; अप्रति-बुद्ध-चेतसाम्—जिनके मन पर्याप्त विकसित नहीं हैं उनके; अभद्र-हेतुः—सारे दुर्भाग्य का कारण; कलिः अन्ववर्तत—कलि पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने उसी रूप के साथ इस पृथ्वीलोक को छोड़ दिया, उसी दिन से कलि, जो पहले ही अंशतः प्रकट हो चुका था, अल्पज्ञों के लिए अशुभ परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए पूरी तरह प्रकट हो गया।

तात्पर्य : जो लोग पूर्ण रूप से ईश्वर-भावनाभावित नहीं हैं, उन्हीं पर कलि का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने आप को भगवान् की देख-रेख में रखकर कलियुग के प्रभावों को निरस्त कर सकता है। कलियुग का पदार्पण कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद ही हो गया था, किन्तु भगवान् की उपस्थिति के कारण यह अपना प्रभाव न दिखा सका। लेकिन जब भगवान् अपने ही दिव्य शरीर को साथ लेकर इस धरालोक को छोड़ गये, तो उनके जाते ही कलियुग के लक्षण उसी तरह प्रकट होने लगे, जिस रूप में द्वारका से अर्जुन के आगमन से पूर्व महाराज युधिष्ठिर को दृष्टिगोचर हो रहे थे और महाराज युधिष्ठिर ने ठीक ही इस धरा से भगवान् के प्रयाण की कल्पना कर ली। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् हमारी आँखों से उसी तरह ओझल हो गये, जिस तरह सूर्य अस्त होने पर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः  
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि ।

विभाव्य लोभानृतजिह्वाहिंसना-

द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥ ३७ ॥

### शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; तत्—उस; परिसर्पणम्—विस्तार को; बुधः—पूर्ण अनुभवी; पुरे—राजधानी में; च—भी; राष्ट्र—राज्य में; च—तथा; गृहे—घर में; तथा—और; आत्मनि—अपने में; विभाव्य—देखकर; लोभ—लालच; अनृत—झूठ; जिह्वा—कुटिल नीति; हिंसन-आदि—हिंसा, ईर्ष्या; अधर्म—अधर्म; चक्रम्—छल; गमनाय—प्रस्थान के लिए; पर्यधात्—तदनुसार वस्त्र धारण किये।

महाराज युधिष्ठिर पर्याप्त बुद्धिमान थे कि वे कलियुग के प्रभाव को समझ गये, जिसके विशेष लक्षण होते हैं—बढ़ता लालच, असत्य भाषण, धोखा देना तथा सारी राजधानी, राज्य, घर तथा समस्त व्यक्तियों में हिंसा का आधिक्य इत्यादि। अतएव उन्होंने घर छोड़ने की तैयारी की और तदनुकूल वस्त्र धारण कर लिये।

तात्पर्य : आधुनिक युग कलि के विशिष्ट गुणों से प्रभावित है। कुरुक्षेत्र युद्ध के दिनों से, जिसे लगभग पाँच हजार वर्ष हुए हैं, कलियुग का प्रभाव प्रकट होने लगा है और प्रामाणिक शास्त्रों से पता चलता है कि अभी कलियुग ४,२७,००० वर्ष और चलता रहेगा। कलियुग के जिन लक्षणों का उल्लेख ऊपर किया गया है अर्थात् लोभ, असत्य, छल, भाई-भतीजावाद, हिंसा इत्यादि, उनका पहले से ही बोलबाला है और यह कोई नहीं जानता कि ज्यों-ज्यों कलि का प्रभाव बढ़ेगा, प्रलय होने तक क्या-क्या न हो ले। हम यह पहले ही जान चुके हैं कि कलियुग के प्रभाव ईश्वर-विहीन तथाकथित सभ्य मनुष्य के लिए हैं। जो लोग भगवान् के आश्रय में हैं, उन्हें इस भयावह युग से डरने की कोई बात नहीं है। महाराज युधिष्ठिर भगवान् के महान् भक्त थे, अतएव उन्हें कलियुग से भयभीत होने की आवश्यकता न थी, किन्तु उन्होंने सक्रिय गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयारी करना उचित समझा। चूँकि पाण्डव भगवान् के सनातन संगी हैं, अतएव वे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा भगवान् की संगति के लिए अधिक बेचैन रहते थे। इसके साथ ही, आदर्श राजा होने के नाते महाराज युधिष्ठिर अन्यो के लिए आदर्श स्थापित करने के लिए भी विरत होना चाहते थे। ज्योंही गृहस्थी के कार्यों को देखनेवाला कोई नवयुवक तैयार हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि वह आध्यात्मिक साक्षात्कार तक ऊपर उठने के लिए तुरन्त गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। उसे गृहस्थी के अंधकूप में तब तक सड़ते नहीं रहना चाहिए, जब तक यमराज आकर उसे बाहर न खींच निकाले।

आधुनिक राजनेताओं को महाराज युधिष्ठिर से स्वेच्छिक वैराग्य लेने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और नई पीढ़ी को अवसर प्रदान करना चाहिए। यही नहीं, सेवा-निवृत्त (रिटायर्ड) वृद्धों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और इसके पूर्व कि वे मृत्यु के लिए बलपूर्वक घसीटे जाँय, उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए घर छोड़ देना चाहिए।

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।

तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥ ३८ ॥

### शब्दार्थ

स्व-राट्—सम्राट्; पौत्रम्—पौत्र को; विनयिनम्—भली-भाँति प्रशिक्षित; आत्मनः—अपना; सु-समम्—सभी प्रकार से समान; गुणैः—गुणों से; तोय-नीव्याः—समुद्रों से घिरा; पतिम्—स्वामी को; भूमेः—भूमि के; अभ्यषिञ्चत्—सिंहासन पर बिठाया; गजाह्वये—हस्तिनापुर की राजधानी में।

तत्पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुर की राजधानी में, उन्होंने अपने पौत्र को सिंहासनारूढ़ किया, जो समुद्र से घिरी सारी भूमि के स्वामी तथा सम्राट के रूप में प्रशिक्षित था और उन्हीं के समान सुयोग्य था।

तात्पर्य : समुद्रों से घिरी हुई सारी भूमि हस्तिनापुर के राजा के अधीन थी। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित को, जो उन्हीं के समान सुयोग्य था, नागरिक के प्रति राजा के कर्तव्य को ध्यान में रखकर राज्य-प्रशासन में प्रशिक्षित किया। इस तरह महाराज युधिष्ठिर के भगवद्धाम जाने के पूर्व, परीक्षित उनके स्थान पर सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। यहाँ पर महाराज परीक्षित के प्रसंग में *विनयिनम्* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो महत्त्वपूर्ण है। कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक, हस्तिनापुर का राजा पूरे संसार का सम्राट क्यों माना जाता था? इसका कारण यही था कि सम्राट के अच्छे शासन के कारण संसार के लोग सुखी थे। नागरिकों के सुख का कारण प्रचुर प्राकृतिक उपज थी—जैसे अन्न, फल, दुग्ध, औषधियाँ, रत्न, खनिज तथा जनता की आवश्यकता की सारी वस्तुएँ। वे शारीरिक व्याधियों, मन की चिन्ताओं तथा प्राकृतिक उत्पातों एवं अन्य जीवों द्वारा दी जाने वाली सारी आपदाओं से मुक्त थे। चूँकि सभी लोग सभी तरह से सुखी थे, अतएव कहीं कोई असन्तोष न था, यद्यपि राजनैतिक कारणों तथा श्रेष्ठता-प्रदर्शन के लिए विभिन्न प्रान्त के राजाओं में कभी-कभी युद्ध हुआ करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता

था, अतएव लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ते न थे। किन्तु धीरे-धीरे कलियुग का दुष्प्रभाव राजा तथा प्रजा दोनों के सद्गुणों में प्रविष्ट हो गया, अतएव शासक तथा शासित के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी। किन्तु शासक तथा शासित के मध्य विषमता के इस युग में भी आध्यात्मिक विकास तथा ईश्वर-चेतना सम्भव है। यही एक विशेष अधिकार उपलब्ध है।

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥ ३९ ॥

### शब्दार्थ

मथुरायाम्—मथुरा में; तथा—भी; वज्रम्—वज्र को; शूरसेन-पतिम्—शूरसेन का राजा; ततः—तत्पश्चात्; प्राजापत्याम्—प्राजापति यज्ञ; निरूप्य—सम्पन्न करके; इष्टिम्—लक्ष्य; अग्नीन्—अग्नि को; अपिबत्—अपने में स्थापित किया; ईश्वरः—समर्थ।

तब उन्होंने अनिरुद्ध ( भगवान् कृष्ण के पौत्र ) के पुत्र वज्र को मथुरा में शूरसेन का राजा बना दिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने प्राजापत्य यज्ञ किया और गृहस्थ जीवन त्यागने के लिए अपने भीतर अग्नि प्रतिष्ठित की।

**तात्पर्य :** महाराज युधिष्ठिर ने महाराज परीक्षित को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाकर तथा भगवान् कृष्ण के प्रपौत्र वज्र को मथुरा का राजा बनाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम धर्म, गुण और कार्य की दृष्टि से वास्तविक मानव-जीवन का शुभारम्भ है और महाराज युधिष्ठिर तो इस वर्णाश्रम धर्म के रक्षक थे, अतएव उन्होंने शासन का भार प्रशिक्षित राजकुमार, महाराज परीक्षित को सौंप दिया और स्वयं संन्यासी बन गये। वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक पद्धति मानव जीवन को चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आश्रमों में विभाजित करती है। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। सभी को इन चारों का पालन करना आवश्यक है, चाहे उसका वृत्तिपरक-विभाग कुछ भी हो। आधुनिक राजनेता सक्रिय जीवन से विरत नहीं होना चाहते, भले ही वे कितने ही बूढ़े क्यों न हो जाँय, लेकिन महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे, अतएव वे स्वेच्छा से प्रशासनिक जीवन से विरत हो गये, जिससे वे अगले जीवन की तैयारी कर सकें। हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने जीवन की ऐसी व्यवस्था करे कि जीवन की अन्तिम व्यवस्था के कम से कम अन्तिम पन्द्रह-बीस वर्ष पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगाये जा सकें, जिससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके। यह

सचमुच नादानी है कि जीवन का सारा समय भौतिक भोग तथा सकाम कर्मों में लगाया जाय, क्योंकि जब तक मन भौतिक भोग के लिए सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक बद्धजीवन या भवबन्धन से बाहर निकलने की कोई गुंजाईश नहीं रहती। किसी भी व्यक्ति को जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के परम कार्य की, अर्थात् भगवद्धाम जाने की, उपेक्षा करने की आत्मघाती नीति नहीं अपनानी चाहिए।

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलययादिकम् ।

निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः ॥ ४० ॥

### शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; तत्र—वे सब; तत्—यह; सर्वम्—सब कुछ; दुकूल—पेटी; वलय—आदिकम्—कंगन आदि; निर्ममः—उदास; निरहङ्कारः—अनासक्त; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटा हुआ; अशेष-बन्धनः—असीम लगाव।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे वस्त्र, कमर-पेटी तथा राजसी आभूषण तुरन्त त्याग दिये और वे पूर्ण रूप से उदासीन तथा प्रत्येक वस्तु से विरक्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् का पार्षद बनने के लिए यह आवश्यक है कि भौतिक कल्मष से शुद्ध हो लिया जाय। ऐसी शुद्धि के बिना कोई न तो भगवान् का पार्षद बन सकता है, न भगवद्-धाम वापस जा सकता है। अतएव, आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने राजसी वेश-भूषा तथा वस्त्रों का त्याग कर राजसी ऐश्वर्य त्याग दिया। संन्यासी का कषाय या केसरिया कौपीन बताता है कि उसे आकर्षक वस्त्रों से मुक्ति मिल चुकी है, अतएव उन्होंने अपनी वेशभूषा बदल ली। वे अपने राज्य तथा परिवार के प्रति उदासीन हो गये और समस्त भौतिक कल्मष या भौतिक उपाधि से मुक्त हो गये। लोग सामान्यतया विविध उपाधियों से जुड़े होते हैं जैसे परिवार, समाज, देश, वृत्ति, धन, पद, इत्यादि। जब तक मनुष्य ऐसी उपाधियों से जुड़ा रहता है, तब तक वह भौतिक दृष्टि से अशुद्ध माना जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित नेता राष्ट्रीय चेतना से जुड़े रहते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि ऐसी मिथ्या चेतना बद्धजीव की दूसरी उपाधि है। भगवद्-धाम जाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय। वे लोग मूर्ख हैं, जो राष्ट्रीय चेतना में मरनेवालों की पूजा करते हैं, लेकिन यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण है, जिन्होंने राजा होते हुए भी ऐसी राष्ट्रीय चेतना से रहित होकर इस संसार से जाने के लिए तैयारी की। फिर भी लोग उन्हें आज तक याद करते हैं,

क्योंकि वे एक महान् पवित्र राजा थे और लगभग भगवान् श्रीराम के ही समान स्तर पर थे। चूँकि संसार में ऐसे पुण्यात्मा राजाओं का प्राधान्य था, अतएव वे सभी तरह से सुखी थे और ऐसे महान् सम्राटों के लिए विश्व पर शासन चलाना सम्भव हो पाया।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।  
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥ ४१ ॥

### शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; जुहाव—त्याग दिया; मनसि—मन में; तत् प्राणं—मन को श्वास लेने में; इतरे च—अन्य इन्द्रियों को भी; तम्—उसमें; मृत्यौ—मृत्यु में; अपानम्—श्वास; स-उत्सर्गम्—पूर्ण समर्पण को; तम्—उस; पञ्चत्वे—पाँच तत्त्वों से बने शरीर में; हि—निश्चय ही; अजोहवीत्—समाहित कर दिया।

तब उन्होंने अपनी सारी इन्द्रियों को मन में, मन को जीवन में, जीवन को प्राण में, अपने पूर्ण अस्तित्व को पाँच तत्त्वों के शरीर में तथा अपने शरीर को मृत्यु में समाहित कर दिया। तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा के रूप में वे देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गये।

**तात्पर्य :** महाराज युधिष्ठिर भी अपने भाई अर्जुन की तरह एकाग्रचित्त होकर क्रमशः सारे भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रियों के समस्त कर्मों को एकाग्र किया और उन्हें मन में समाहित कर दिया, अथवा दूसरे शब्दों में, उन्होंने मन को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मोड़ा। उन्होंने प्रार्थना की कि चूँकि सारे भौतिक कार्यकलाप मन द्वारा इन्द्रियों के कर्मों तथा फलों के रूप में सम्पन्न होते हैं और चूँकि वे भगवद्-धाम जा रहे थे, अतएव मन को अपने भौतिक कार्यकलापों को समेट लेना चाहिए और भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मुड़ना चाहिए। तब भौतिक कार्यकलापों की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वस्तुतः मन के कार्यकलापों को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि वे सनातन आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु कार्यकलापों के गुण को पदार्थ से भगवान् की दिव्य सेवा में बदला जा सकता है। जब मन के मैल को प्राण वायु द्वारा स्वच्छ कर लिया जाता है, तो उसका भौतिक रंग बदल जाता है और वह जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जाता है और शुद्ध आध्यात्मिक जीवन में स्थित हो जाता है। भौतिक देह के क्षणिक रूप से धारण होने पर सब कुछ प्रकट होता है और यह शरीर मृत्यु के समय की मन की उपज है, अतएव यदि मन को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है और उसे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में प्रवृत्त रखा जाता है, तो मृत्यु

के बाद मन द्वारा अन्य भौतिक शरीर को उत्पन्न कर पाने की सम्भावना ही नहीं रहेगी। तब यह भौतिक कल्मष में डूबे रहने से मुक्त हो जायेगा और शुद्ध आत्मा भगवद्-धाम को लौट जायेगा।

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।

सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२ ॥

### शब्दार्थ

त्रित्वे—तीनों गुणों में; हुत्वा—आहुति करके; च—भी; पञ्चत्वम्—पाँच तत्त्व; तत्—वह; च—भी; एकत्वे—एक अविद्या में; अजुहोत्—लीन हो गया; मुनिः—विचारवान; सर्वम्—कुल मिलाकर; आत्मनि—आत्मा में; अजुहवीत्—स्थिर; ब्रह्मणि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; अव्यये—कभी न समाप्त होने वाले।

इस प्रकार उन्होंने पंचत्वमय स्थूल शरीर को विनष्ट करके, प्रकृति के तीन गुणों में मिलाकर उसे अज्ञानता में मिला दिया और तब उस अज्ञानता को आत्मा या ब्रह्म में विलीन कर दिया, जो सर्वदा अक्षय है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में जो कुछ व्यक्त है, वह महत् तत्त्व अव्यक्त का प्रतिफल है और हमें जितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ऐसे विविध भौतिक पदार्थों के विविध संयोग हैं। लेकिन जीव ऐसे भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है। यह तो जीव द्वारा भगवान् के नित्य दास-रूप में अपना शाश्वत स्वभाव भूलने के कारण तथा प्रकृति पर प्रभुता जताने की मिथ्या धारणा के कारण है कि उसे मिथ्या इन्द्रिय-भोग के संसार में प्रवेश करना पड़ता है। इस तरह भौतिकता द्वारा मन के प्रभावित होने का मुख्य कारण भौतिक शक्ति की साथ-साथ उत्पत्ति है। इस तरह पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। महाराज युधिष्ठिर ने इस क्रिया को उलट दिया और उन्होंने शरीर के पाँचों तत्त्वों को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में मिला दिया। इससे शरीर के उत्तम, मध्यम या निकृष्ट होने का अन्तर जाता रहता है और पुनः गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ भौतिक शक्ति में समाहित हो जाती हैं, जो शुद्ध जीव के मिथ्या भाव से उत्पन्न हैं। इस तरह जब कोई वैकुण्ठलोक के असंख्य लोकों में से किसी एक में, विशेषतया गोलोक वृन्दावन में, भगवान् का पार्षद बनना चाहता है, तो उसे निरन्तर यह सोचना होता है कि वह इस भौतिक शक्ति से भिन्न है, उसे इससे कोई सरोकार नहीं है और उसे अपनी अनुभूति शुद्ध आत्मा या ब्रह्म के रूप में करनी होती है, जो गुण में परम ब्रह्म (परमेश्वर) के तुल्य है। महाराज युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य परीक्षित तथा वज्र को सौंप देने के बाद उन्होंने अपने आपको न तो विश्व का सम्राट



माना, न ही कुरुवंश का अग्रणी माना। भौतिक सम्बन्धों से एवं स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों के भौतिक बन्धन से स्वतंत्रता का यह भाव मनुष्य को भगवान् के दास के रूप में कार्य करने के लिए मुक्त बनाता है, भले ही वह अभी भौतिक जगत में रहता हो। यह अवस्था इसी भौतिक जगत में रहते हुए भी जीवन्मुक्त अवस्था कहलाती है। भौतिक अस्तित्व को समाप्त करने की विधि यही है। मनुष्य को न केवल अपने को ब्रह्म समझना चाहिए, अपितु उसे ब्रह्म के समान आचरण भी करना चाहिए। जो अपने को मात्र ब्रह्म समझता है, वह मायावादी (निर्विशेषवादी) है। किन्तु जो ब्रह्म की भाँति कर्म करता है, वह शुद्ध भक्त है।

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः ।  
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।  
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ॥ ४३ ॥

### शब्दार्थ

चीर-वासा:—चिथड़े ग्रहण किये; निराहारः—ठोस भोजन करना त्याग दिया; बद्ध-वाक्—बोलना बन्द कर दिया; मुक्त-मूर्धजः—बाल खोल दिए; दर्शयन्—दिखाने लगे; आत्मनः—अपने; रूपम्—शारीरिक स्वरूप को; जड—निष्क्रिय; उन्मत्त—पागल; पिशाच-वत्—उजडु की तरह; अनवेक्षमाणः—प्रतीक्षा किये बिना; निरगात्—स्थित था; अशृण्वन्—बिना सुने; बधिरोः—बहरा व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने फटे हुए वस्त्र पहन लिये, ठोस आहार लेना बन्द कर दिया, वे जान कर गूँगे बन गये और बालों को खोल दिया। इन सबके मिल-जुले रूप में, वे एक उजडु या वृत्तिविहीन पागल की तरह दिखने लगे। वे किसी वस्तु के लिए अपने भाइयों पर आश्रित नहीं रहे। वे बहरे मनुष्य की तरह कुछ भी न सुनने लगे।

तात्पर्य : इस प्रकार समस्त बाह्य झंझटों से छूटने पर, उन्हें राजसी जीवन या परिवार-प्रतिष्ठा से कुछ लेना-देना नहीं रहा और वे एक तरह से वे निष्क्रिय, पागल, उजडु की तरह बन गये और भौतिक मामलों के विषय में कुछ भी बोलना बन्द कर दिया। अब वे अपने उन भाइयों पर आश्रित नहीं रहे जो निरन्तर उनकी सहायता करते थे। सभी प्रकार की इस पूर्ण स्वतंत्रता को निर्भीकता की शुद्ध अवस्था (निर्भयपद) कहते हैं।

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वा महात्मभिः ।

हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

उदीचीम्—उत्तरी दिशा; प्रविवेश-आशाम्—वहाँ प्रवेश करने की इच्छा करनेवाले; गत-पूर्वाम्—अपने पूर्वजों द्वारा स्वीकृत पथ; महा-आत्मभिः—विशाल हृदय के कारण; हृदि—हृदय के भीतर; ब्रह्म—परमेश्वर; परम्—परम; ध्यायन्—निरन्तर ध्यान करते हुए; न आवर्तेत—अपने दिन बिताये; यतः—जहाँ कहीं भी; गतः—गये।

तब उन्होंने उत्तर दिशा की ओर अपने पूर्वजों तथा महापुरुषों द्वारा स्वीकृत पथ पर चलते हुए प्रस्थान किया, जिससे वे परमेश्वर के विचार में पूर्ण रूप से लग सकें। वे जहाँ कहीं भी गये, इसी तरह रहे।

**तात्पर्य :** इस श्लोक से यह विदित होता है कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने पूर्वजों तथा भगवान् के महान् भक्तों के चरण-चिह्नों का अनुगमन किया। हम पहले कई बार यह बता चुके हैं कि जिस रूप में वर्णाश्रम-धर्म विश्व के निवासियों द्वारा और विशेष रूप से आर्यावर्त के निवासियों द्वारा पालित होता है, उसमें जीवन की एक अवस्था में, घर-बार के सारे सम्बन्धों को छिन्न करने की महत्ता पर बल दिया जाता है। इसी दृष्टि से प्रशिक्षण तथा शिक्षा दी जाती थी और इस तरह महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्मानित व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार करने तथा भगवद्धाम वापस लौटने के लिए सारे पारिवारिक सम्बन्ध छोड़ने पड़ते थे। गृहस्थ जीवन को न कोई राजा, न कोई सम्मानित व्यक्ति, अन्त तक चला सकता है, क्योंकि इसे मानव जीवन की सिद्धि के प्रतिकूल तथा उसकी आत्म-हत्या जैसा माना जाता है। अतएव सारी पारिवारिक झंझटों से मुक्त होने एवं भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा में शत-प्रतिशत लगने की हमेशा संस्तुति की जाती है, क्योंकि यह प्रामाणिक पथ है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.६२) में शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को, कम से कम अपनी अन्तिम अवस्था में, भगवद्भक्त बनना चाहिए। भगवान् के प्रति एकनिष्ठ आत्मा को अपने हित के लिए महाराज युधिष्ठिर की भाँति भगवान् के उपदेश का पालन करना चाहिए।

*ब्रह्म परम्* शब्द भगवान् श्रीकृष्ण के सूचक हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन द्वारा *भगवद्गीता* (१०.१३) में असित, देवल, नारद तथा व्यास जैसे महापुरुषों के सन्दर्भ में की गई है। इस प्रकार उत्तरापथ के लिए गृहत्याग करते हुए महाराज युधिष्ठिर अपने अन्तःकरण में निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहे और अपने पूर्वजों तथा सभी परम भक्तों के चरण-चिह्नों पर चलते रहे।

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।

कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

सर्वे—सारे; तम्—उनको; अनुनिर्जग्मुः—पीछा करते हुए घर छोड़ दिया; भ्रातरः—भाइयों ने; कृत-निश्चयाः—निश्चित रूप से; कलिना—कलियुग द्वारा; अधर्म—अधर्म; मित्रेण—मित्र के द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; स्पृष्टाः—प्रभावित, वशीभूत; प्रजाः—सारे नागरिक; भुवि—पृथ्वी पर।

महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाइयों ने देखा कि कलियुग का पहले से ही संसार भर में पदार्पण हो चुका है और राज्य के नागरिक पहले से ही अधर्म द्वारा प्रभावित हैं। अतएव उन्होंने अपने बड़े भाई के चरण-चिन्हों का अनुगमन करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई पहले से ही सम्राट के आज्ञाकारी आज्ञापालक थे और जीवन के परम उद्देश्य को जानने के लिए उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दिया गया था। अतएव उन्होंने भगवान् कृष्ण की भक्ति करने में अपने बड़े भाई का अनुसरण करने का निश्चय किया। सनातन धर्म के नियमानुसार आधी आयु बीत जाने पर गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त होना चाहिए। लेकिन इस प्रकार प्रवृत्त होना सदैव निश्चित नहीं रहता। कभी-कभी निवृत्ति-प्राप्त लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपने को किस तरह लगाये रखा जाये। यहाँ पाण्डव जैसे अधिकारीजनों का निर्णय दिया हुआ है। उन सबों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अनुशीलन में अपने आपको प्रवृत्त किया। स्वामी श्रीधर के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के चरम लक्ष्य नहीं हैं, जैसाकि कई लोग सोचते हैं। इनका अभ्यास तो वे करते हैं, जिन्हें जीवन के चरम लक्ष्य की कोई जानकारी नहीं है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में जीवन के चरम उद्देश्य का संकेत किया है और पाण्डवों ने बिना किसी संकोच के उनका पालन करने की बुद्धिमानी की।

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।

मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥ ४६ ॥

## शब्दार्थ

ते—वे सब; साधु-कृत—साधु के अनुरूप किया गया; सर्व-अर्थाः—प्रत्येक योग्य वस्तु से युक्त; ज्ञात्वा—जानकर; आत्यन्तिकम्—चरम; आत्मनः—जीव का; मनसा—मन के भीतर; धारयाम् आसुः—पालन किया; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के स्वामी; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल का।

उन्होंने धर्म के सारे नियम सम्पन्न कर लिये थे। अतएव उनका यह निश्चय ठीक ही था कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल ही सबों के चरम लक्ष्य हैं। अतएव उन्होंने बिना व्यवधान के उनके चरणों का ध्यान किया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.२८) में भगवान् कहते हैं कि जिन्होंने पूर्वजन्म में सत्कर्म किये हैं और जो समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो चुके हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने को एकाग्र कर सकते हैं। पाण्डवों ने न केवल इस जन्म में, अपितु अपने पूर्वजन्मों में भी सदैव पुण्य कर्म किये थे। और इस प्रकार वे पापकर्मों के फलों से हमेशा मुक्त थे। अतः यह उचित ही है कि उन्होंने अपना ध्यान भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के नियमों को वे ही अपनाते हैं, जो पापकर्म के फलों से मुक्त नहीं हुए हैं। ऐसे लोग उपर्युक्त चारों नियमों के कल्मष से प्रभावित होने के कारण वैकुण्ठलोक के स्वामी भगवान् के चरणकमलों को तुरन्त ही अपना नहीं पाते। वैकुण्ठ विश्व भौतिक आकाश से बहुत दूर स्थित है। भौतिक आकाश दुर्गादेवी या भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन है, किन्तु वैकुण्ठ विश्व की व्यवस्था भगवान् की निजी शक्ति द्वारा होती है।

तद्भ्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।

तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥ ४७ ॥

अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।

विधूतकल्मषा स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥ ४८ ॥

## शब्दार्थ

तत्—वह; ध्यान—ध्यान; उत्रिक्तया—मुक्त होकर; भक्त्या—भक्ति से; विशुद्ध—विशुद्ध; धिषणाः—बुद्धि द्वारा; परे—अध्यात्म में; तस्मिन्—उसमें; नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण के; पदे—चरणकमल में; एकान्त-मतयो—जो एक और अनन्य ऐसे भगवान् में स्थित हैं, उनके; गतिम्—गन्तव्य; अवापुः—प्राप्त किया; दुरवापाम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; ते—उनके द्वारा; असद्भिः—भौतिकतावादियों द्वारा; विषय-आत्मभिः—भौतिक आवश्यकताओं में लीन; विधूत—धोया हुआ; कल्मषाः—भौतिक मल; स्थानम्—धाम; विरजेन—रजोगुण से रहित; आत्मना एव—ठीक उसी शरीर से; हि—निश्चय ही।

इस प्रकार भक्तिभाव से निरन्तर स्मरण करने से उत्पन्न भक्तिमयी शुद्ध चेतना के द्वारा उन्होंने आदि नारायण भगवान् कृष्ण द्वारा अधिशासित वैकुण्ठलोक प्राप्त किया। यह वैकुण्ठलोक केवल उन्हें प्राप्त होता है, जो अविचल भाव से एक परमेश्वर का ध्यान धरते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यह धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और यह उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, जो जीवन की भौतिक अवधारणा में लीन रहते हैं। लेकिन समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से शुद्ध होने के कारण पाण्डवों ने अपने इसी शरीर में उस धाम को प्राप्त किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो तथा अध्यात्म में स्थित हो, तो वह शरीर-परिवर्तन हुए बिना ही जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी ने *हरि-भक्ति-विलास* नामक अपनी कृति में कहा है कि कोई भी व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में आध्यात्मिक अनुशासनात्मक कर्म करके द्विजन्मा ब्राह्मण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक रसायनशास्त्री रासायनिक प्रक्रिया से पीतल जैसी किसी धातु को सोने में बदल देता है। अतएव शरीर-परिवर्तन के बिना ही ब्राह्मण बनने या बिना शरीर-परिवर्तन के भगवद्धाम जाने में वास्तविक मार्गदर्शन का महत्त्व होता है। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यहाँ *हि* शब्द का उपयोग इस सत्य की पुष्टि करता है और इस वास्तविक स्थिति के विषय में कोई सन्देह नहीं है। *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी श्रील जीव गोस्वामी के इस कथन की पुष्टि होती है, जब भगवान् कहते हैं कि जो अविचल भाव से विधिपूर्वक भक्ति करता है, वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष को लाँघ करके ब्रह्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है और जब भक्तिमय सेवा के स्वयंस्फूर्त आचरण द्वारा ब्रह्मसिद्धि को और भी उन्नत बनाया जाता है, तो इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि उसे बिना शरीर-परिवर्तन के गोलोक वृन्दावन प्राप्त होता है, जैसा बिना शरीर-परिवर्तन के भगवान् के अपने धाम लौटने के सम्बन्ध में हम पहले ही बता चुके हैं।

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः ।

कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥ ४९ ॥

## शब्दार्थ

विदुरः—विदुर ( महाराज युधिष्ठिर के चाचा ); अपि—भी; परित्यज्य—त्याग कर; प्रभासे—प्रभास नामक तीर्थस्थल में; देहम् आत्मनः—अपना शरीर; कृष्ण—परमेश्वर; आवेशेन—उसी विचार में लीन होकर; तत्—उनका; चित्तः—विचार तथा कार्य; पितृभिः—पितृलोक के वासियों सहित; स्व-क्षयम्—अपने निजी धाम को; ययौ—चला गये।

तीर्थाटन के लिए गये हुए विदुर ने प्रभास में अपना शरीर त्याग किया। चूँकि वे भगवान् कृष्ण के विचार में मग्न रहते थे, अतएव उनका स्वागत पितृलोक के निवासियों ने किया, जहाँ वे अपने मूल पद पर लौट गये।

तात्पर्य : पाण्डवों तथा विदुर में अन्तर इतना ही है कि पाण्डव भगवान् के नित्य संगी हैं, लेकिन विदुर पितृलोक के प्रशासक देवताओं में से एक हैं और यमराज के रूप में जाने जाते हैं। लोग यमराज से भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे ही इस जगत के दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें उनसे डरने की कोई बात नहीं है। वे भक्तों के सुहृद मित्र हैं, किन्तु अभक्तों के लिए साक्षात् भय हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, यमराज को मण्डूक मुनि ने शाप दिया था कि वे शूद्र बन जाये, अतएव विदुर यमराज के अवतार थे। उन्होंने भगवान् के सनातन सेवक के रूप में अत्यन्त मनोयोग से भक्ति का प्रदर्शन किया और पुण्यात्मा का जीवन बिताया, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र जैसे भौतिकतावादी मनुष्य को भी उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त हो सका। अतएव वे भक्ति के पुण्यकर्मों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का स्मरण सदैव कर सकते थे और इस तरह उनके शूद्र-जन्मा जीवन के सारे कल्मष धुल गये। अन्त में पितृलोक के निवासियों ने उनका स्वागत किया और पुनः उन्हें अपना मूल पद मिल गया। देवता भी भगवान् के पार्षद हैं, किन्तु उन्हें भगवान् का व्यक्तिगत संग प्राप्त नहीं हो पाता, जबकि भगवान् के प्रत्यक्ष पार्षदों को उनका निरन्तर संग प्राप्त होता रहता है। भगवान् तथा उनके निजी पार्षद निरन्तर विभिन्न ब्रह्माण्डों में अवतरित होते रहते हैं। भगवान् सभी पार्षदों का स्मरण रखते हैं, किन्तु भगवान् के सूक्ष्म अंश होने के कारण वे उन्हें भूल जाते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इस तरह भूलना सहज है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.५) में हुई है।

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।

वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥ ५० ॥

## शब्दार्थ

द्रौपदी—द्रौपदी ( पाण्डव पत्नी ); च—तथा; तदा—उस समय; आज्ञाय—भगवान् कृष्ण को भलीभाँति जानते हुए; पतीनाम्—पतियों के; अनपेक्षताम्—उसकी परवाह न करनेवाले; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव ( कृष्ण ) में; भगवति—भगवान्; हि—ठीक उसी तरह; एक-अन्त—पूर्णतया; मतिः—ध्यान; आप—प्राप्त किया; तम्—उसको ( भगवान् को )।

द्रौपदी ने भी देखा कि उसके पतिगण, उसकी परवाह किये बिना घर छोड़ रहे हैं। वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को भलीभाँति जानती थीं। अतएव वे तथा सुभद्रा दोनों भगवान् कृष्ण के ध्यान में लीन हो गईं और अपने-अपने पतियों की सी गति प्राप्त की।

तात्पर्य : हवाई जहाज उड़ते समय कोई किसी दूसरे जहाजों की संभाल नहीं ले सकता। हर एक को अपने खुद के जहाज की संभाल लेनी होती है और यदि कोई संकट आ पड़े, तो उस अवस्था में कोई अन्य जहाज दूसरे की सहायता नहीं कर सकता। इसी प्रकार जीवन के अन्त में, जब हर एक को अपने घर, भगवद्धाम वापस जाना होता है, तो उसे दूसरे के ऊपर निर्भर न रह कर, स्वयं अपनी संभाल लेनी होती है। हाँ, उड़ने के पूर्व जमीन पर सहायता की जाती है। इसी प्रकार किसी के जीवन काल में उसे उसका गुरु, पिता, माता, सम्बन्धी, पति तथा अन्य लोग सहायता कर सकते हैं, किन्तु भवसागर पार करते समय हर एक को अपनी खुद की परवाह करनी होती है और पहले से प्राप्त उपदेशों का उपयोग करना होता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, किन्तु किसी ने नहीं कहा कि चलो। द्रौपदी को अपने महान् पतियों की प्रतीक्षा किये बिना अपनी परवाह स्वयं करनी थी और चूँकि वे पहले से प्रशिक्षित थीं, अतएव उन्होंने तुरन्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण का ध्यान किया। पत्नियों को भी उसी तरह पतियों जैसी गति प्राप्त हुई, अर्थात् वे बिना शरीर बदले, भगवान् के धाम पहुँच गईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है कि द्रौपदी तथा सुभद्रा दोनों को एक सा ही फल मिला, यद्यपि यहाँ पर उनका नाम उल्लिखित नहीं है। उनमें से किसी को भी अपना शरीर त्यागना नहीं पड़ा।

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां

पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।

शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं

लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥ ५१ ॥

## शब्दार्थ

यः—जो कोई; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; एतत्—यह; भगवत्-प्रियाणाम्—भगवान् के अत्यन्त प्रियजनों का; पाण्डोः—पाण्डु के; सुतानाम्—पुत्रों का; इति—इस प्रकार; सम्प्रयाणम्—चरम लक्ष्य के लिए प्रस्थान; शृणोति—सुनता है; अलम्—केवल; स्वस्त्ययनम्—सौभाग्य; पवित्रम्—पूरी तरह शुद्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; हरौ—भगवान् की; भक्तिम्—भक्ति को; उपैति—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि को।

पाण्डु-पुत्रों द्वारा जीवन के परम लक्ष्य भगवद्धाम के लिए प्रस्थान का यह विषय अत्यन्त शुभ तथा परम पवित्र है। अतएव जो भी इस कथा को भक्तिभावपूर्वक सुनता है, वह जीवन की परम सिद्धि भगवद्भक्ति को निश्चय ही प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एवं पाण्डवों जैसे भगवद्भक्तों की कथा है। भगवान् और उनके भक्तों की कथा अपने आप में पूर्ण है। अतएव भक्तिभाव से इसे सुनना भगवान् तथा उनके नित्य-संगियों से सान्निध्य प्राप्त करने जैसा है। मनुष्य श्रीमद्भागवत का श्रवण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् भगवद्धाम-प्रस्थान को प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति' नामक पंद्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।